टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

सारिका

कहानियों और कथा जगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : २५ अंक : ६१४ : दिसंबर '८५ : प्रथम पक्ष : मूल्य : ५ रुपये

कथा पीढ़ी विशेषांक : चार

सारिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : २५ ; अंक : ३५४ ; १-१५ दिसंबर, १९८५

संपादक
अवधनारायण मुद्गल
उप-संपादक
रमेश बत्तरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
सज्जा
सुनीता

आवरण : आनंद

कथा-पीढ़ी विशेषांक : चार

कहानियां

8. मायकल लोबो : गोविंद मिश्र
12. अकालग्रस्त : राकेश वत्स
17. नौपाड़ी : स्वयं प्रकाश
21. एक थी हंसमुख दे : मृणाल पांडे
25. पिल्ला : ब्रजेश्वर मदान
27. किलोम : मृदुला गर्ग
30. चिड़िया ऐसे मरती है : अशोक अग्रवाल
37. राख : सूर्यबाला
40. यात्रामुक्त : राजी सेठ
47. सर्वशक्तिमान : बटरोही
51. किरचों पर सजा इंद्रधनुष : नमिता सिंह
56. घर : सुभाष पंत
60. चीरहरण के बाद : आलमशाह खान
63. गुमनाम : धीर राजा
68. पहचान : जितेंद्र भाटिया

लघु रचनाएं

16. श्लील बनाम अश्लील : डॉ नामवर सिंह
19. लिखने के बाद : लुशुन
24. कहानी बनाम कविता : रवींद्र कालिया
35. लेखक और समीक्षक की प्रतियोगिता : मुक्तिबोध
45. कहानी का जन्म : कर्तार सिंह दुग्गल
50. कथाकार की जरूरत : हुसैन
67. लेखन का पहला उद्देश्य : इसाक सिंगर
69. भाषा की शक्ति : विजयमोहन सिंह

स्थायी स्तंभ

5. आपकी बात
7. अपनी बात
70. पसबारे की पुस्तकें
73. हलचल

संपादकीय पता : सारिका, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

पाठकों की बचत एवं सुविधा के लिए

हमें अक्सर पाठकों से शिकायती-पत्र मिलते हैं कि उन्हें 'सारिका' अपने बुक स्टॉल पर मिल नहीं पाती, उनके पहुंचने से पहले ही सारी प्रतियां बिक जाती हैं. पाठकों की सुविधा के लिए हम उन्हें सलाह देंगे कि वे अपना शुल्क आज ही ड्राफ्ट/मनीआर्डर के रूप में नीचे दिये गये कूपन के साथ हमें भिजवा दें ताकि उन्हें 'सारिका' डाक से नियमित भिजवायी जा सके.

शुल्क की रियायती दरें :
वार्षिक : 115 रुपये
अर्धवार्षिक : 60 रुपये

कृपया मुझे/हमें निम्न पते पर एक वर्ष/छह माह के लिए 'सारिका' भेजने की व्यवस्था करें. समुचित राशि संलग्न है.

नाम....................
पता....................
....
....
हस्ताक्षर....................

शुल्क तथा कूपन कृपया इस पते पर भेजें :
प्रसार अधिकारी,
सारिका, टाइम्स ऑफ इंडिया,
7, बहादुर शाह जफर मार्ग,
नयी दिल्ली-110002.

अगला अंक

हमें करना है!... हमें देखना है!...
हमें सोचना है!... हमें बढ़ना है!...

——मगर इन मसीहाई भाषाओं में यह बात कभी साफ नहीं हुई कि हमें क्या करना है, क्या देखना है, क्या सोचना है और कैसे आगे बढ़ना है!... आठवें दशक की कथा-पीढ़ी ने अपनी रचनाओं में इन अमूर्त शब्दों को मूर्त रूप देने की जो कोशिश की, उसी की बानगी है—सारिका : रजत जयंती वर्ष की समापन और २४ वीं सौगात——

कथा-पीढ़ी विशेषांक: पांच

- संजीव, अब्दुल बिस्मिल्लाह, सुरेंद्र सुकुमार, नासिरा शर्मा, राधेश्याम,सुरेंद्र मनन, प्रियंवद, नर्मदेश्वर, पुन्नी सिंह, नरेंद्र निर्मोही, विभांशु दिव्याल, राजकुमार गौतम, अनीता मनोचा, तरसेम गुजराल, नरेंद्र मौर्य, अशोक गुप्ता, केशव की तात्कालीन कहानियां.
- हिंदी कहानी की पांचवीं पीढ़ी की रचनाधर्मिता——एक विचारोत्तेजक आलेख
- आपकी बात, अपनी बात, पसबारे की पुस्तकें, लघुकथा आदि स्थायी स्तंभों सहित—

सारिका
16 दिसंबर, 1985

पाठकों और शोध छात्रों के लिए संग्रहणीय दस्तावेज.

आपकी बात

प्रश्न चिन्हों के दायरे में

सभी कहानियां सशक्त, मर्मस्पर्शी एवं सुरुचिपूर्ण हैं. उनके आधुनिक संदर्भ भी हैं. किंतु एक बड़े आदमी (?) की छोटी कहानी पढ़कर दिल कचोट गया. उनको आज भी अपनी जाति एवं वंश की श्रेष्ठता का संदर्भ प्रासंगिक लगा है. यह दुखद ही नहीं शर्मनाक भी है क्योंकि आज जातियां अप्रासंगिक हैं. हम जातिविहीन, वर्गविहीन, समता एवं समृद्धमूलक समाज चाहते हैं, न कि वर्ण, जाति, लिंग, रंग एवं धर्म पर आधारित समाज. पीड़ा होती है यह जानकर कि उनकी जाति भी जो शूद्र ही मानी गयी है, अनेक धारणाकर ब्राह्मण कन्या से ब्याह करती है किंतु कोई डोम राजा ऐसा नहीं कर सकता है. हमारे मिथकों में राजाओं, उनके ब्याह, जातियों एवं उनकी श्रेष्ठता या नीचता से जुड़े हजारों मिथक हैं जिनका आज कोई संदर्भ नहीं है. सड़ी मानसिकता से ओत-प्रोत इस लघुकथा को आप नहीं ही छापते तो बेहतर था.

● कमलेश्वर साह, भागलपुर-812002

धर्म या प्रेम का प्रतिरूप

सारिका ने नयी पीढ़ी को मिथकीय संरचना की अर्थ परंपरा से जोड़कर मिथकीय साहित्य से परिचय कराया. संपूर्ण अंक पठनीय, संग्रहणीय है. पुरुष हो या नारी मिथकीय चरित्र इतिहास के पृष्ठों में कहीं न कहीं कथा पुराणों से अवश्य जुड़े होते हैं. गूढ़ और दुरूह अर्थोंवाले मिथकीय पात्र चाहे वो 'महाभारत' के हों या 'रामायण' के, तर्क और वितर्क के दायरे में कमजोर नजर आते हैं. जोगेंद्र पाल की कहानी **महाभारत का दूसरा युद्ध** इस बात की द्योतक है कि सम-सामयिक जीवन में नारी आज भी 'द्रौपदी' की तरह असहाय, धर्म के बंधन से युक्त, लाचार और भोग-विलास की वस्तु बनी हुई है. भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं "नारी को स्वतंत्र अधिकार की मांग करनी चाहिए" को उचित ठहराया है. "इस जीवन युद्ध में—कोई किसी का भाई नहीं, कोई मित्र नहीं...कोई किसी का नहीं," का उपदेश देकर **वीरेंद्रकुमार जैन** के उपन्यास **मुक्तिदूत** के कथ्य को सार्थक कर दिया कि नारी—तुम पुरुष की जरखरीद गुलाम नहीं, तुम भी स्वतंत्र मानुषी हो. —जिसे अपने अस्तित्व को पूर्ण विकसित करने का अधिकार है. पुरुष ने धर्म या प्रेम का और पौरुष का सहारा लेकर नारी को अबला या संतान को जन्म देनेवाली मांस की कठपुतली का दर्जा देकर अपने आपको पति-परमेश्वर कहलाया है जबकि पुरुष को जन्म इसी नारी ने दिया है.

मिथकीय कहानियां आधुनिक संदर्भ

मिथकीय कहानी का सही प्रतिनिधित्व तो **नरेंद्र कोहली** की कहानी **धर्म** ने किया है. अपने पात्र धर्मराज युधिष्ठिर को, धर्म की परिभाषा, उसका आचरण भगवान श्रीकृष्ण के तर्क-वितर्क के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है. धर्म और प्रेम दोनों ही ढाई अक्षर के शब्द हैं. धर्म कर्म को मजबूर करता है. प्रेम त्याग का पाठ पढ़ाता है—कर्म को श्रेष्ठता प्रदान करता है. मगर जब हित और कल्याण का ह्रास धर्म के द्वारा हो रहा हो तो रूढ़ नियमों और मान्यताओं को धर्म मानकर अपने वक्ष से चिपकाये रहने का क्या औचित्य है? लेखक ने धर्म का सही विश्लेषण करके, बुद्धिजीवी वर्ग और धर्माधिकारियों के समक्ष प्रश्न चिन्ह लगा दिया है कि क्या धर्म का सामाजिक नियंत्रण के रूप में बने रहना उचित है या नहीं? प्रेम समन्वयवादी दृष्टिकोण को बढ़ावा देता है. मिथकीय चरित्र के अंदर 'प्रेम' की जो अभिव्यक्ति देखने को मिलती है उसी अभिव्यक्ति की आज आवश्यकता है.

● सुधीर तिवारी इलाहाबाद

महाभारत, एकलव्य और औरत

अंक जानकारी पूर्ण ही नहीं, वरन खोजपूर्ण भी था. दुर्गा भागवत की लघु-रचना **पांच पुरुषों की कामिनियां** नारी त्रासदी एवं शोषण पर पूर्णतः प्रकाश डालती है. उन्हीं की रचना **राई के लड़के** की लपट में एकलव्य के नवीन रूप के दर्शन हुए. उनकी ये पंक्तियां "एकलव्य की कहानी सुनाते समय स्वर में दुनियादारी क्यों अपनायी? वाणी में संक्षिप्तता क्यों ग्रहण की? क्या यहां कुछ भी ऐसा नहीं था, जो कवि-मन को आकंठ भर जाता?" वर्तमान के हरिजनों, दलितों पर हो रहे अत्याचारों को देखकर पत्रकार-जगत की चुप्पी पर करारा तमाचा है. ज्ञातव्य है कि 'एकलव्य के वंशज' आज भी धनुष-बाण चलाते समय दाहिने हाथ के अंगूठे का प्रयोग नहीं करते, उनके अनुसार वह तो बहुत पहले गुरु-दक्षिणा में दिया जा चुका है.

संजीव का लेख **भारतीय मिथकों की भंगिमाएं** अत्यंत चुटीला एवं विचारोत्तेजक लगा. उनके मत से असहमत होने का कोई कारण नहीं कि सामंतवाद और पुरोहितवाद के हितों में अधिसंख्य मिथक गढ़े और प्रचारित किये गये. यही कारण है कि नारी और शूद्रों (आज के हरिजन) को सदा अन्याय, उत्पीड़न एवं शोषण का शिकार होते रहना पड़ा. रामायण हो या महाभारत या अन्य कोई रचना नारी और शूद्रों को उनके अधिकारों से वंचित रखा गया तथा तथाकथित धर्म के नाम पर उन्हें बलि का बकरा बनाया जाता रहा.

टुकड़ा-टुकड़ा औरत (उमाकांत मालवीय) तथा **महाभारत का दूसरा युद्ध"** (जोगेंद्र पाल) अपने आप में अद्वितीय रचनाएं हैं. कुंती हो या द्रौपदी, प्रम्लोचा हो या माधवी, आखिर उनकी नियति क्या है? यही न कि पुरुष उन्हें भोगता हुआ अपनी पाशविक-भूख को शांत करता रहे ? नारी टुकड़ा-टुकड़ा होकर पुरुष की अंक-शायिनी बनती रहे, कभी गुरु-दक्षिणा देने के लिए (माधवी), कभी इंद्रासन बचाने के लिए (प्रम्लोचा मेनका, उर्वशी आदि), कभी संतानोत्पत्ति के लिए (कुंती) तो कभी प्रसाद के रूप (द्रौपदी) में पांच पतियों में बंटने के लिए तथा कभी निर्दोष होते हुए भी (सीता के रूप में) अग्नि-परीक्षा देती रहे व बनवास भी जाती रहे. क्या ये कृत्य औचित्यपूर्ण थे ?

चर्चित अंक में, **बलराम की हेर-फेर** आज की संपूर्ण स्थिति पर एक बेबाक टिप्पणी है. **हीरामणि शर्मा की एक भगीरथ और** बलिदान की गौरव-गाथा तो है ही, प्रेरणा-दायी रचना भी है. संग्रहणीय अंक प्रकाशन हेतु संपादक मंडल को साधुवाद !

● के. एस. तूफान, नयी दिल्ली.

सुखद-सा अनुभव

विविध विशेषांकों की प्रस्तुति के सफर में **सारिका का मिथकीय कहानियां : आधुनिक संदर्भ-अंक** काल विशेष की विशेष-स्थितियों से निर्मित मिथकों के जरिए आधुनिक संदर्भों और अर्थों की तलाश के लक्ष्य में सफल होता मालूम दिया.

वैसे तो सारिका का हर अंक अपने आप में एक आकर्षण कैद किये होता है, उसकी हर कहानी एक आंदोलन और हर शब्द एक खरोंच लिये होता है किंतु इस अंक के मिथकीय सिलसिले में तकरीबन सभी स्तरीय कहानियों के अतिरिक्त **हजारी प्रसाद द्विवेदी** के औपन्यासिक-सार अनामदास का पोथा और सोवियत कथाकार आंद्रेज उपिट्ज की रचना **स्वर्ग से बहिष्कृत** ने दिल की गहराइयों को एक ऐसा ठंडा, मुलायम-सा स्पर्श दिया गोया

किसी ने पीछे से आकर ठंडे हाथों से आंखों को दबाकर, पलकों की तपस को सर्द और सुखद-सा अनुभव दिया हो.

● गुरुचरण टिलवानी, झांसी

एक अलिखित अनुबंध

मिथकीय कहानी अंक आधुनिक संदर्भों को उजागर कर पाठक को विविध प्रकार से उद्वेलित करता है. यह अंक भावप्रधान ही कहा जायेगा. प्रारंभिक कहानियों ने ही पूरा अंक पढ़ने के लिए अनुबंधित-सा कर लिया. नारी व नारीत्व पर सशक्त साहित्य देकर इस अंक को विविध आयामी बना दिया गया है अमृतप्रीतम का **मिथहास का नया दर्शन, नरेंद्र कोहली** का **धर्म, हजारी प्रसाद द्विवेदी** का **अनामदास का पोथा** तथा **वीरेंद्र कुमार जैन** का **मुक्तिदूत** अधिक अच्छे लगे.

● हरीश कुमार उपाध्याय, शिवसागर

लोकगीतों को समझने की नयी दृष्टि

मिथकों के बारे में एक साथ इतनी अधिक जानकारी दी गयी है जितनी कि इससे पूर्व संभवत किसी पत्रिका ने नहीं दी थी. संजीव का लेख **भारतीय मिथकों की भंगिमाएं** लोकगीतों को समझने की नयी दृष्टि देता है. हमारे लोकगीत जनजीवन व जनसामान्य से कितना जुड़े हैं इसकी झलक-संजीव ने हिरणी के गीत व राजा तथा नटी की कथा में दे दी है. मिथकों को किसी तरह आधुनिक संदर्भ में ढालकर सामाजिक यथार्थ से जुड़ी हुई कहानियां लिखी जा सकती हैं उसका उदाहरण जोगेंद्र पाल की रचना **महाभारत का दूसरा युद्ध** है. **वीरेंद्र कुमार जैन** का उपन्यास **मुक्तिदूत** यह बताता है कि नारी के बारे में जो हमारा चिंतन सदियों पूर्व था, कुछ सतही रूप में आज भी विद्यमान है. **उमाकांत मालवीय** की रचना **टुकड़ा-टुकड़ा औरत** नारी की विवशता की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करती है.

● डा. राम बहादुर वर्मा, रायबरेली

मिथक और इतिहास में अंतर

इतिहास में नाम और तारीख के अलावा सच कुछ नहीं होता जबकि मिथक में नाम और तारीख को छोड़कर बाकी सब कुछ सच होता है.

● रवि शर्मा, नयी दिल्ली

देर से मिली तसल्ली

मिथक कहानी विशेषांक हेतु अनंत शुभकामनाएं स्वीकार हैं.

नरेंद्र कोहली, कुबेरनाथ राय, बलराम, उमाकांत मालवीय, प्रियंवद, वीरेंद्र कुमार जैन, **इंतजार हुसैन** की रचनाएं प्रतिनिधि रचनाएं हैं. बहुत दिनों बाद भरपूर तसल्ली **सारिका** ने दी है, बधाई.

● गफूर तायर, दमोह

श्रद्धांजलि

देशबंधु : एक अचानक व्यक्तित्व

देशबंधु की एक आदत को लेकर मैं हमेशा उससे नाराज रहा. बैठे हुए बातचीत कर रहे हैं या कहीं जा रहे हैं, अचानक पता चलता था कि वह गायब हो गया. कोई जरूरी काम है तो बताकर जाओ. पर नहीं.

एक बात और. जितने अचानक वह गायब होता, उतने ही अचानक किसी भी दिन सामने आ खड़ा होता. एक दिन दोपहर बाद उसे अपनी मेज के पास अचानक देखकर मैं चौंका था. पूछा, "अचानक कैसे ?" जवाब था, "दफ्तर में बैठा काम कर रहा था, पेशाब करने के लिए बाहर आया तो एक जीप खड़ी थी. ड्राइवर ने बताया कि वह दिल्ली जा रहा है तो मैं बैठ गया."

"किसी को बताया? घर में, दफ्तर में?"

"बताया तो नहीं, वापस लौटकर जीप का ड्राइवर वहां बता ही देगा."

उसकी इस आदत की हम लोगों को आदत पड़ गयी थी. इसीलिए जब 25 अक्तूबर को देशबंधु का मौसेरा भाई उसके बारे में पूछता हुआ मेरे पास आया और उसने बताया कि 23 तारीख को उसकी शादी हुई थी और 24 तारीख की सुबह वह अचानक घर से गायब हो गया तो मुझे अटपटा जरूर लगा पर आश्चर्य नहीं हुआ. अटपटा इसलिए कि उसने शादी की और किसी को खबर तक न की. मैंने उसे यही कहकर आश्वस्त किया कि वह कहीं चला गया होगा, और तीन-चार दिन तक लौट आयेगा. फिर मैंने उसे धीरेंद्र (धीरेंद्र अस्थाना : दिनमान) के पास भेज दिया कि संभवतः धीरेंद्र के पास देशबंधु के कुछ ठिकानों की जानकारी हो.

तब मुझे ऐसी तो कोई आशंका भी न थी कि देशबंधु के अचानक चले जाने की यह आखरी घटना होगी और चार दिन बाद 28 तारीख को वह नहीं, उसकी लाश घर लौटेगी. उसकी लाश उस दिन देहरादून से लगभग 50 किलोमीटर दूर डकरानी की नहर में मिली थी. जिन लोगों ने लाश को देखा, उनका कहना है कि शरीर पर चोट के निशान थे. कुछ लोगों की राय है कि बंधु ने आत्महत्या की होगी. पर मैं यह नहीं मान सकता. वह आदमी और कुछ भी कर सकता था, आत्महत्या नहीं कर सकता था, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूं.

देशबंधु से मेरी पहली मुलाकात 1968 के अक्तूबर महीने के दूसरे इतवार को शाम के करीब पांच बजे देहरादून में साहित्य'संसद की बैठक में हुई थी. और यह मुलाकात करायी थी, साहित्य संसद के तत्कालीन सचिव दरिया भद्रीपुरी ने. वह दिन मुझे इसलिए याद है कि उस दिन मैं पहली बार साहित्य संसद की गोष्ठी में गया था और मेरी आयु के लोगों में वहां केवल देशबंधु ही था. उन दिनों मैं एम.एस-सी. करने के बाद बेरोजगारी के एक लंबे दौर से गुजर रहा था. कॉलेज के जमाने के सारे दोस्त अपने-अपने ठिकाने लग चुके थे. मैं उनसे पूरी तरह से कट चुका था. गोष्ठी में उसने एक कहानी सुनायी थी. मुझे लगा यह तो मेरी ही कहानी है. गोष्ठी के बाद की पूरी शाम हम साथ रहे. उस दिन उसने अवधेश (चित्रकार, अवधेश कुमार) से भी मिलवाया. दो हफ्ते बाद होने वाली साहित्य संसद की अगली गोष्ठी में एक और नया लड़का आया था—मनमोहन. और इस तरह हम चारों का चौगुटा देहरादून के साहित्यक फलक पर उभरा.

हम सब लोग ही कम लिखते थे, पर देशबंधु सबसे कम लिखता था. और यह उसी का दम था कि अगर किसी कहानी को हम लोग कहते थे कि कमजोर रह गयी है तो फिर से ठीक करने के बजाय वह उसे फाड़ देता था. कुल मिलाकर उसकी तीन-चार कहानियां ही प्रकाशित हुई हैं. एक कहानी उससे लगभग छीनकर मैं लाया था जो सारिका में प्रकाशित हुई थी (अप्रैल I, 1984) इससे पहले सुभाष पंत और जितेंद्र शर्मा के साथ मिलकर मैंने एक कहानी संकलन संपादित किया था—'एक अभियान और' उसमें भी देशबंधु की एक कहानी ली थी. उसके इसी संकोच के कारण बहुत अच्छी कहानियां और कविताएं लिखने के बावजूद साहित्य की दुनिया में उसका नाम काफी हद तक अनजाना ही रह गया. देशबंधु की कुछ अप्रकाशित कहानियां हमें मिली हैं. उनमें से एक आप शीघ्र ही सारिका में देखेंगे.

इन्हीं पंक्तियों के साथ मैं 'सारिका' के संपादकीय विभाग तथा विस्तृत पाठक परिवार की ओर से देशबंधु की स्मृति को श्रद्धासुमन अर्पित करता हूं.

—सुरेश उनियाल

अपनी बात

अनायकवाद तथा अकथावाद के दौर को देखकर कुछ समीक्षकों को लगा था कि कहानी समाप्त हो गयी है. वे अपने औजार संभालकर कविता की वापसी के रास्ते पर खड़े हो गये थे. लेकिन कहानी मरी नहीं. उसने अपने लिए एक नया रास्ता तलाश किया. यह नया रास्ता दरअसल नयी कहानी का ही 'बाइपास' था. इसे समांतर आंदोलन नाम दिया गया. इस आंदोलन ने कहानी को जिंदा रखने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभायी लेकिन धीरे-धीरे इसका स्वरूप जड़ होता गया. इसकी समाप्ति भी फार्मूलेबाजी और नारेबाजी में ही हुई. हालांकि इस आंदोलन का उद्देश्य बहुत अच्छा था. कहानी में आयी हुई जड़ता के टूटने के आसार नजर आने लगे थे. वह जड़ता किसी सीमा तक टूटी भी लेकिन इससे जिस नयी चेतना की उम्मीद थी वह पूरी नहीं हो सकी. इस आंदोलन द्वारा उछाला गया 'आम आदमी' कुछ कदम चलकर ही 'विशिष्ट आदमी' बन गया. कुछ नाम जो बड़ी तेजी से उभरकर आये थे वे कहानी लेखन की सार्थक और सहज धारा से कटकर लगभग गुमनाम से हो गये. मुझे खुशी है कि वे लोग फिर से सार्थक कहानी की सही जमीन पर लौट रहे हैं. उनका स्वागत है.

यह सही है कि हिंदी कथाकारों की चौथी पीढ़ी विचारों के धरातल पर काफी साफ है. इसके रास्ते और रास्तों के मोड़ उलझे हुए नहीं हैं. जहां तक प्रतिबद्धता का सवाल है, वहां उन्हें दो स्थितियां दिखाई दे सकती हैं. एक वह लोग हैं जो किसी खास राजनीतिक विचारधारा से जुड़े हुए हैं और दूसरी ओर वह हैं जो सिर्फ अपने लेखन के प्रति प्रतिबद्ध हैं. लेकिन सामाजिक सरोकारों से जुड़े होने की बात दोनों ही ओर नजर आती है. यह एक ईमानदार और सही स्थिति है. आज के रचनाकार में संवेदना, सोच और अनुभूति का दायरा बढ़ा है. इसीलिए इस पीढ़ी में लेखन का क्षेत्र भी व्यापक हुआ है.

यही एक ऐसी पीढ़ी है जिसमें लेखिकाओं की संख्या सबसे अधिक है. पिछली पीढ़ियों में गिनी-चुनी लेखिकाएं हैं और आश्चर्य इस बात का है कि आगे की पीढ़ी भी लगभग लेखिकाओं से शून्य है, लेकिन इस पीढ़ी के लिए यह नहीं कहा जा सकता. इस पीढ़ी की सबसे बड़ी देन कुछ सशक्त लेखिकाएं ही हैं. यह सही है कि हम इस अंक में सभी लेखिकाओं को स्थान नहीं दे पाये. यह कमी हम जनवरी के संयुक्त पीढ़ी विशेषांकों में पूरी कर देंगे. इस चौथी पीढ़ी के साथ जुड़ी लेखिकाओं की संख्या, शक्ति और क्षमता को देखकर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि भारतीय और विशेष रूप से हिंदीभाषी महिलाएं अपने कार्य और अधिकारों के प्रति न सिर्फ जागरूक हुई हैं बल्कि उन्हें हासिल करने की एक सार्थक लड़ाई भी छेड़ी है. 'सारिका' उनकी लड़ाई का स्वागत भी करती है और समर्थन भी.

हर पीढ़ी की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं. ये विशेषताएं चाहे राजनीतिक उथल-पुथल या आंदोलनों के कारण हों अथवा सांस्कृतिक और साहित्यिक आंदोलनों के द्वारा. हिंदी की चौथी पीढ़ी के सामने ये दोनों ही स्थितियां रही हैं. इस पीढ़ी के साथ ही 1971 की गौरवशाली और महान विजय जुड़ी है. साथ ही जुड़ी हैं आपातकालीन स्थितियां और सत्ता की स्वार्थभरी खींचतान. इन तमाम बातों ने इस पीढ़ी को नयी ऊर्जा भी दी और एक नये किस्म की जागरूकता भी. यही ऊर्जा और जागरूकता इस पीढ़ी की सबसे बड़ी विशेषता है. संभवतः इन्हीं स्थितियों ने इस पीढ़ी के कंधों पर आर्थिक दबाव भी बढ़ाये हैं. इसीलिए इस पीढ़ी के रचनाकार को अनिश्चय और अनिर्णय की स्थितियों से भी गुजरना पड़ा है. अक्सर ऐसी स्थितियों से गुजरने के कारण कोई भी पीढ़ी दिग्भ्रमित हो सकती है लेकिन इस पीढ़ी ने अपने आपको दिग्भ्रमित होने से न सिर्फ बचाया ही है बल्कि ज्यादा चौकन्ना भी किया है. यही कारण है कि आने वाली पीढ़ी को विरासत में कुंठाएं नहीं मिलीं. कुंठामुक्त रहना अपने आपमें काफी महत्वपूर्ण बात है.

हम यह अंक एक ऐसी पीढ़ी को समर्पित कर रहे हैं जो कुंठामुक्त है और चीजों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखती है.

कृ. मा. (हस्ताक्षर)

चौथी पीढ़ी : रचनाकार में संवेदना, सोच और अनुभूति का दायरा बढ़ा है

मायकल लोबो

गोविंद मिश्र

—मैं तुमसे कहता हूं कि शराब छोड़ने की चिंता छोड़ दो. चिंता यह करो कि तुम ईश्वर से दूर क्यों हो! क्या इसलिए तुम वहीं हो जहां, दुख है, दर्द है, कष्ट है?— तमाम विसंगतियों के बीच मनुष्य की क्षमताओं को रेखांकित करती मार्मिक कहानी—

मायकल लोबो तो यही था—टूटके टू. गोया कि पैंट-कमीज-कोट में कोई बांस का एक पतला टुकड़ा गलती से डल गया और डालकर भूल गया. रंग धुर काला, सिगरेट पी-पीकर और भी काला. काले के ऊपर पीलेपन की गोट. दांत...अंधेरे में चमकती हुई कोई सफेद लहर नहीं बल्कि ढहती हुई इमारत की जहां-तहां से उखड़ती ईंटें. हाथ पैर लुंजपुंज. दाहिने हाथ की दो उंगलियां सिगरेट को बराबर थामे, हल्के कांपती हुईं.

लेकिन क्या चुस्ती और आकर्षण था लोबो में! उन दिनों वह अपने को हर क्षण हरकत में पाता था...जबरदस्त हरकत. समय कैसे भागा जा रहा है, और कहां...यह सोचने की कभी जरूरत ही नहीं हुई. क्योंकि वह खुद दुगनी रफ्तार से भागता होता. दिन में बारह बजे तक कचहरी में वकालत. उसके बाद या तो शराब की जुगाड़ में दौड़-फिर रहे हैं या फिर शराब की महफिलें गर्म हो रही हैं. घर में बीबी-बच्चे अपनी जानें. लोबो का काम सिर्फ उनके लिये रुपये मुहैया कर देना. बर्खुदार शहर के पहुंचे वकील के बेटे थे. खुद वकील बने तो मौक्किल-मुकदमें पहले से ही मौजूद. कुछ दिनों में सरकारी वकील हो गये तो और भी घर खर्च लायक आमदनी पक्की हो गयी. दूसरे मुकदमों से जो पीट-पाट लिया वह शराब के लिए था.

दोपहर से ही अड्डेबाजी चालू हो जाती और चलती रहती बरसात की झिरी की तरह. अन्तराल सिर्फ इस महफिल से उठकर दूसरी तक जाने का, उसे जमाने का. भीतर बाहर खलल-बलल करती होती शराब. शाम तक पेट में बुदुर-बुदुर होने लगता जैसे चूल्हे पर अदहन चढ़ा हो. कभी-कभी तो पेट की बाकायदा धज्जियां उड़ी हुई होतीं. ऐसा लगता जैसे भीतर लत्तों के हजारों टुकड़े उड़ रहे हैं, उड़े जा रहे हैं...लेकिन जाम सामने बराबर हाजिर...जब तक कि पलक के ऊपर पहाड़ न आकर बैठ जाये. आधी रात तक घर पहुंच गये तो पहुंचे गये. वरना जहां तक पहुंचे, पहुंचे. कभी किसी की कार में ही लुढ़क गये और रात कार के साथ गराज में कट गयी. कभी सुबह-सुबह ढूंढ मची. दोस्तों से पूछा-पाछी हुई तो कोई दोस्त ही ताज्जुब करने लगा, "ए घर नहीं पहुंचा, कहकर तो गया था कि घर ही जाता हूं. अच्छा ठहरिए बरामदे में कोई पड़ा है शायद वही हो." और बाहर बरामदे या सीढ़ियों पर सोती हुई शख्सियत हजरत माइकल लोबो की ही निकलती. बाद में कितने दिनों तक ऐसी कोई बात महफिलों में मजाक बन नाचती. वैसे ज्यादातर लोबो घर पहुंच ही जाते, क्योंकि वह जिम्मेदारी उनकी नहीं किसी और की होती थी. किसी न किसी की नजर पड़ ही जाती थी और छोटा कस्बा होने की वजह से सभी माइकल लोबो को पहचानते थे.

लोबो से भी ज्यादा तेज भागती थी उनकी जुबान, कतन्नी की तरह कच्च-कच्च करती चली जाती. वह कहता भी था, "लो...बो, बो...लो एक ही बात है, हर्फ ही तो इधर से उधर हो गया और साथ मिलाकर पढ़िए तो भी वही है—लोबो बोलो. अल्लाताला का हुक्म है कि बोलो. अरे वो दारा सिंह है तो वहां भी दारू सिंह है. चांबूलकर...? वह यहां कहां होगा भाई. 'जाम-भूल-कर' है तो जाम को ही ढूंढ रहा होगा. वह होगा देवदास...हम तो भाई लेवदास हैं...लेव जाम, चढ़ाओ जाम." लोबो की हाजिर जवाबी और मजाक का अंदाज ऐसे थे कि महफिलों में सब उसके मोहताज होते. हर महफिल का केंद्रबिंदु वही था-वह बोलता और सब सुनते. शराब और उसकी बातें एक सिक्के के दो पहलू थे...उन्हीं से महफिलें गरम होती थीं. एक से एक चटक और धारदार मजाक लोबो के दिमाग में दौड़े चले जाते. एक चौराहे पर शहर की एक मशहूर हस्ती की प्रतिमा खड़ी थी. वे जब जीवित थे तो समाजसेवी होने के अलावा उनका एक व्यक्तिगत किस्सा भी शहर में खासा मशहूर था. उनकी एक रखैल थी जो उन्हें भी छोड़ किसी और के साथ भाग गयी थी. एक रात शराब के बाद लोबो एंड कंपनी भटकती हुई इस चौराहे पर आ निकली. मूर्ति के पास ही ट्रैफिक का एक बोर्ड था—कीप लेफ्ट. लोबो अपने साथियों को बुलाकर उसे पढ़वा रहे थे और भुनभुनाते जाते थे—'पब्लिसिटी की हद है.' दोस्त लोग उस पर भी न समझे तो उन्होंने तफसील दी- 'यानी कि मूर्ति के साथ-साथ यह भी मशहूर कर रहे हैं कि उनकी जो 'कीप' थी वह भाग गयी...यानी कि हद है.'

कभी-कभी मजाक पैदा करने की लत लोबो से क्या का क्या उगलवा जाती. उस शाम वह अपने पिता को दफना कर सीधा महफिल में पहुंचा था. पिता के ही एक बुजुर्गवार साथी ने देखा तो औपचारिकतावश दूर से ही पूछा, "मायकल तुम्हारी मां कैसी है." "आलराइट सर ! स्टिल ए विडो सर." कहकर लोबो अपने पैने अंदाज में खुश-खुश आगे बढ़ गया लेकिन जब सभी दोस्त एकाएक चुप...तो उसे भी कुछ कौंधा, जो वह कह गया, उससे यह ध्वनि निकल गयी थी कि मां आप जैसे विधुर लोगों के लिए उपलब्ध है. लोबो को हल्की ग्लानि हुई कि अभी-अभी पिता को कब्र में उतार कर आया और फौरन शराब, साथ ही मां के साथ ऐसा क्रूर मजाक. लेकिन यही तो था मायकल लोबो. शराब के बिना एक दिन भी रहना मुश्किल और शराब और जुबान तो फिर साथ थिरकती थीं. कोई लगाम नहीं. हमदर्द उसे अक्सर समझाते. कुछ दोस्तों ने उसे टालना भी शुरू किया, कुछ ने शराब देना बंद कर दिया. गिरजे के पादरी लोग कहते, "मायकल अब भी समय है, आ जाओ, हम शराब छुड़वाने में तुम्हारी मदद करेंगे." लेकिन लोबो तो सोते हुए भी जैसे घोड़े पर सवार रहता था, कहता, "किनारे बैठ तमाशा देखनेवाले क्या जाने दरिया में बहना क्या है, क्या होता है लहरों के थपेड़ों में डूबना-उतरना, अरे ! एक बार लगाम छोड़कर तो देखो...हुजूर, पर लग जायेंगे, उड़ने का लुत्फ तुम क्या जानो, हर वक्त

अपनी सेहत की हिफाजत करते बैठे रहते हो और यह शरीर भी आखिर दगा दे ही जाता है.'' लोबो को थोड़ा-बहुत गड़ती थीं तो बीवी की वे झुकी निगाहें जिनके बोझ को उठाये वह हर उस व्यक्ति को धन्यवाद देती जो कहीं भी पड़े उसके पति को देर रात उठा कर घर लाया होता. लोबो ने कभी उन निगाहों को देखा नहीं, इस हालत में ही नहीं होता था...फिर भी वे उसे बराबर घूरती होतीं, उसकी पीठ में छेद करती होतीं. लोबो तेज बोल-बालकर बीवी की नजरों को परे कर देता. धीरे-धीरे उसके लिए यह एक खेल हो गया था...थोड़ी देर को शीशे में कुछ उतरायेगा, लोबो एक हाथ मारकर उसे पोंछ डालेगा.

वो भी आखिर तंग आ गयी. कहां तक आधी रात को रोज किसी न किसी का सामना करती. उसने मायकल को उठा कर लाने वाले को दबी जुबान से फटकारना शुरू कर दिया. ''भाई साहब ! इन्हें क्यों उठा लाये आप, इनकी जगह वहीं है जहां ये पड़े थे.'' फिर यह हुआ कि कोई खटखटाता रहता, वह दरवाजा ही न खोलती, लाने वाला मायकल को सीढ़ियों पर सुलाकर चला जाता. इस बीच बेटी रूथ जाग गयी तो वह पापा को भीतर करती, वरना सीढ़ियों पर ही सुबह. ऐसे ही चल रहा था...बीच-बीच में लोबो की सुधरने की कोशिशें भी, बीवी को दिये वायदे कि बस आज से बंद...लेकिन शाम को फिर उसी हालत में घर पहुंचना. सब कुछ इतनी बार हो चुका था कि किसी भी घटना में कुछ नया नहीं रहा था. सबने, मायकल लोबो ने खुद भी सुधरने की आशा छोड़ दी थी. ऐसे ही जीना था, जब तक जीना था...और जीना भी एक-एक दिन नहीं, एक दिन में एक-एक महीना घट रहा था...कि एक रोज वैसे ही घर की सीढ़ियों पर लुढ़के हुए पता नहीं क्या हुआ कि लोबो में तमाम धुंध के बीच अपने इर्द-गिर्द की थोड़ी पहचान जगी. दिमाग सोया था—यह एकदम नहीं मालूम कि कौन यहां लाया, कैसे लाया, वह रात कहां था, शाम कहां से शुरू हुई...लेकिन उसने देखा कि रूथ उसे सीढ़ियों पर से उठा रही थी...

''पापा, मैं कब तक आपको इस तरह उठाती रहूंगी?''

वे शब्द...स्वर में कैसी वेदना...जहां तकलीफ का बांध चटकने को आ जाता है ! रूथ बोल चुकी पर वे शब्द फिर भी बोलते रहे. उनके पीछे बड़ी ही रहस्यमय गूंज थी...जैसे दूर किसी गिरजे के घंटों की आवाज संगीत में छनती हुई चली आ रही हो. अनुगूंज सिर्फ आवाज की ही नहीं, अर्थ की भी...अर्थ जो रोशनी बन आसपास फैल रहा था, फैलकर बज रहा था. आवाज, अर्थ और रोशनी के फर्क खत्म हो गये थे. घर, सीढ़ियों, बरामदा, छप्पर, बेटी और वह...इनकी अलग-अलग पहचानें नदारत थीं. सिर्फ रोशनी थी—रोशनी में उतराते गूंज के टुकड़े, यहीं कहीं पर कहीं नहीं...

कैसा अद्भुत था वह प्रकाश...एक छोटी-सी आगना में ही, आगना जहां-बड़ी होगी, यहां? ज्यों-ज्यों वह रोशनी उसकी पहुंच के बाहर होती गयी, लोबो का मन ग्लानि से भरता गया. हीनता-बोध जीवन में पहली बार उभरा और वह भी इतना कि लोबो उसके बोझ से दबा जा रहा था. रूथ ने अंदर ले जाकर लिटा दिया था पर लोबो को अब नींद कहां, कोई खामोश कराह उस पर गहरी खरोंच खींचती इधर से उधर चली जाती...एक के बाद दूसरी, हर बार नयी जगह. गिरे हुए बाप को देखकर कैसी तकलीफ उपजती होगी बेटी में ! शर्म का कितना बोझ ढोती होगी रूथ की नन्ही-सी जान. अपने परिचितों और सहेलियों के बीच उसका सिर झुका ही रहता होगा...उस चीज को लेकर जिसके लिए वह दूर-दूर तक जिम्मेदार नहीं थी...

मुश्किल मुश्किल से पौ फटी उस रोज. लोबो सीधा पादरी के पास गया और बोला, ''फादर, मैं आज इसी वक्त से शराब छोड़ता हूं.'' न धीरे-धीरे छोड़ने की बात, न किसी दवा, ड्रग या व्यक्ति का सहारा ही चाहिए. लोबो को पता नहीं कैसे बहुत भरोसा था इस बार. एक हफ्ता बुरा बीता. लगता जैसे जिस्म का एक-एक हिस्सा अलग होकर हवा में गिरता जा रहा है और लोबो देख रहा है—वह कान गया, वह दाहिने हाथ की उंगली गयी. कभी पूरे शरीर में खून की जगह हवा ही हवा भरी महसूस होती. कभी जाने कहां से चींटियों का कोई बड़ा काफिला उठ खड़ा होता, सारे शरीर में एक-साथ रेंगने लगता. लोबो एक खौलती चिनचिनाहट में आ गिरता. कभी शराब के एक घूंट के लिए वह तलब उठती जैसे पानी के अंदर एक अदद सांस के लिए उठती है... बस एक घूंट ! ऐसे में लोबो अपना हाथ कस कर दबाता, उस रोशनी को याद करने लग जाता जो उस रात सीढ़ियों पर उतरी थी, लोबो के लिए, उसे उठाने.

छह महीने हुए लोबो ने शराब को हाथ नहीं लगाया है. परिवार के लिए राहत हुई कि किसी को अब लोबो के लिए आधी रात उठना नहीं पड़ता....बाकी पहले जैसा ही है. लोबो ने सोचा था कि शराब छोड़ते ही वह पिता जैसा प्रतिष्ठित व्यक्ति हो जायेगा...लेकिन कुछ नहीं हुआ. बड़े आदमियों के लिए वह अब भी शराबी-कबाबी है, जो साथी थे, उनसे शराब ही जोड़ती थी, शराब गयी तो वे भी गये. निम्न वर्ग के लिए लोबो कौतूहल की चीज है—'अरे ! वही है? छोड़ दी? गप्पा मारता है.' ये लोग लोबो से सटने की कोशिश करते हैं कभी शराबी खुद आता है कभी उसकी मां, कभी बीवी-'कैसे छूटी भैया, क्या हमारा रमन्ना नहीं छोड़ सकता?' लोबो इन लोगों को झिड़क कर भगा देता है, उन्हें कभी मुंह नहीं लगाता...जब पीता था तब भी नहीं, गंदे लोग हैं, मुंह खुला नहीं कि ऐसा भभका छूटता है जैसे पेट में ही भट्टी लगी हो. एक वक्त था जब वह जलसों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के संचालन का काम बखूबी करता था, अपने खास मजाकिया अंदाज में उन्हें जानदार बना देता. दो-तीन पैग चढ़ाये और मंच पर कूद गया——बला का आत्म-विश्वास. शराब छोड़ने के बाद एक कार्यक्रम हाथ में लिया तो मंच पर आते ही हाथ पैर कांपने लगे, गला खुश्क...लगा जैसे सामने बैठे जन-समुदाय पहले से ही खी-खी कर रहा है—यही है जो सड़क पर कहीं भी लुढ़का दिखता था, सौकिया ! लोबो की घिग्घी बंध गयी, एक बोल मुंह से न निकला. उसे हटाकर किसी और को खड़ा करना पड़ा था.

पहले लोबो किसी की परवाह नहीं करता था, अब किसी की छोटी-से छोटी बात भी गड़ जाती है. पहले हमेशा उसके चारों तरफ भीड़ ही भीड़ थी, अब लोबो अकेला हो गया है.

मायकल ! पूरे सात साल तुम सोये रहे, तुम्हें पता ही न चला कि इस बीच कैसे पिता की जमी-जमायी वकालत टुकड़ा-टुकड़ा ढहती चली जा रही है. ईश्वर ने तुम्हें सब कुछ दिया था—तंदरुस्ती, अक्ल, शिक्षा, बोलने की कला और पिता की उम्दा विरासत लेकिन तुम सो गये, सात साल सोते रहे. तुम में अब कोई वजन नहीं रहा. बांस में हिल्गे फटे कपड़े की तरह तुम अब सिर्फ हवा में फटर-फटर होते रहोगे. लोबो तो गुजर चुका, अब तो उसका खोल बचा है जो इधर से उधर होता रहेगा...

लोबो के दफ्तर में मुवक्किलों वाली बेंच पर वह बैठी हुई थी...मैले-कुचैले कपड़ों में लिपटी एक दुबली-पतली काया, चेहरा-मोहरा साधारण, कुल मिलाकर इतनी मामूली कि नजर कहीं नहीं ठहरती थी. देखने के फौरन बाद ही भूल जानेवाली चीज.

दफ्तर में और कोई नहीं था. लोबो की नजर किताब से उठी कि वह दिखायी दी. कब आयी, कैसे आयी, कैसे कि आवाज ही न हुई, कितनी देर से यों चुपचाप बैठी हुई है, क्या कोई मुकदमा लायी है?

लोबो के मुखातिब होते ही औरत ने मुंह सड़क की तरफ कर लिया, पीठ लोबो की ओर, फिर दोनों हाथों से कपड़े ऊपर खींच अपनी पीठ खोल दी. पीठ पर घाव ही घाव छिटके हुए थे, नये-पुराने पके-सड़े, पूरे-अधपुरे सभी तरह के घाव, पुराने घावों पर जहां-तहां नयी ठोकरें...जिससे सूखने के बजाय वे और भिनक कर रह गये थे. पूरी पीठ दागों से ऐसे पटी पड़ी थी जैसे किसी भटकी हुई चिट्ठी पर एक ही जगह के आसपास दस तरह की मोहरें मारी गयीं हों. लोबो कुछ पूछता उसके पहले ही उधर से उसने बताना शुरू कर दिया, ''मरद रोज शराब पीकर घर पहुंचता है, मोहल्ले में घुसते ही झगड़ा-फसाद करता है. वह बीच-बचाव कर किसी तरह घर लाती है तो फिर घर में उसे मारता है या बच्चों को. कभी-कभी तो एक-दूसरे को बचाने की कोशिश में सभी मारे जाते हैं. मारते समय मरद को ठौर-कुठौर का

भी ध्यान नहीं रहता. बगैर गालियां वह बात ही नहीं करता. रोज का यही हाल है, एक दिन का भी नागा नहीं...''

लोबो ने बीच में टोकने की कोशिश की, कल के मुकदमे की तैयारी में व्यस्त होने की बात उठायी लेकिन औरत वैसे ही पीठ इस तरफ किये हुए अपना दुख गाती चली गयी. अब वह छोटे छोटे किस्सों पर आ गयी थी—उस रोज यह हुआ, अगले रोज यह, छोटे-छोटे फिजूल के ब्योरों के साथ. बीच-बीच में सिसकती भी थी...पर वह स्वर भी करीब करीब बोलने जैसा ही. सिसकने में आवाज ऊपर-नीचे कतई नहीं होती थी, एक-सी चलती उस आवाज में अजब ठंडापन था...जैसे सहते-सहते वह उस बिंदु पर आ पहुंची हो जहां उतार-चढ़ाव के अहसास ही खत्म हो गये हों, दुख एक-पर-एक जमकर रह गये हों.

वह एकरस ठंडी आवाज लोबो को मूर्छा में लिये जा रही थी. पता नहीं किस किस्से के बीच वह एकाएक फट पड़ा, ''ठीक है...ठीक है...तो मैं क्या करूं? मुझे इस सबसे क्या मतलब ! आप तो इस तफसील से सुनाये जा रही हैं जैसे गुनहगार मैं होऊं, जैसे मैं ही आपको पीटता होऊं. जैसे आपका पति अगर पीटता है तो इसका जिम्मेदार मैं हूं. जाइए, अपने मुखिया से कहिए, मुझसे क्या मतलब? आपका आदमी जब इतना खराब है तो उसे छोड़ क्यों नहीं देतीं? दायर करिये मुकदमा, मैं लड़ता हूं. मैं जानता हूं...वह आप न करेंगी. हिंदुस्तानी औरत रोयेगी-गायेगी खूब, मगर अलग होने की बात न करेगी...''

औरत पलटी, एक नजर लोबो पर डाली—वैसी ही ठंडी नजर, जैसी आवाज. फिर पीठ ढकी, आंखों के हिल्गे आंसू पोंछे और बगैर कुछ कहे बाहर निकल गयी.

औरत तो चली गयी पर उसकी पीठ पर उछले दाग पीछे छूट गये. लोबो की बीवी की वे निगाहें जब वह देर रात लोबो को लानेवाले को धन्यवाद देती होती—'भाईसाहब...' वे नजरें जिन्हें लोबो ने सीधे कभी नहीं देखा था, पर जो उसकी पीठ में बराबर छेद करती होतीं...वे जैसे फिर लौट आयी थीं, उस औरत की पीठ पर उछले जख्मों में दुगुनी-चौगुनी होकर फैली हुई थीं.

लोबो उलझकर रह गया. वह नंगी पीठ और वे उछले घाव सामने बने ही रहते. जितना वह परे करता उतना ही वे और सामने झूलते. सवाल पर सवाल चले आते—वह औरत कौन थी, कुछ मांगा तो नहीं पर क्या आस लेकर आयी थी? उसे इस तरह दुतकार कर नहीं भगाना था. अपना दुख क्या इतना बड़ा होता है कि किसी और के दुख दिखायी ही न दें? क्या उस औरत को ढूंढ़ा जा सकता था? वह कहीं दिखायी दे जाये तो पहचाना भी तो नहीं जा सकता. पीठ खाली हो तो वह एकदम पहचान लेगा. लोबो के सामने अब भी एक-एक घाव थे—कौन कैसा, पीठ पर किस जगह! अक्सर उन घावों से बहुत ही महीन धागे उठकर लोबो की आंखों तक तन आते. लोबो पर एक रहस्यमयी तंद्रा मंडराने लगती...बैठते-उठते, चलते-फिरते, काम करते हुए भी, एक धुंध-सी, चारों ओर घिर आती जिसमें वे घाव अस्फुट स्वरों में कुछ बोलते हुए तैरते होते. आसपास कुछ वैसी आवाज घूमती होती जो रूथ की उस दिन थी. 'पापा ! मैं कब तक आपको इस तरह उठाती रहूंगी'—कब तक...! एक दिन तो सोने-जागने के बीच लोबो को ऐसा लगा जैसे घावों के वे कटे-छंटे स्वर अलग-थलग पड़े अक्षर हो गये, वे फिर सहसा एक इबारत में सज गये जो उस पीठ पर साफ साफ लिखी हुई थी—और ईश्वर ने कहा कि तू अब इधर आ जो यह कहता है कि तेरी जिंदगी गयी, उधर देख कि दूसरों की अब भी बच सकती है. मायकल ! तेरा नुकसान इसी तरह भर सकता है कि उसे तू दूसरे की जिंदगी में न होने दे. जिनसे तू भागता है उन्हीं के बीच जा...

''**ड्रिं**क एंड ड्रिंक-पियो और सिकुड़ते जाओ ड्रिंक और थिंक या पी लो या फिर सोच ही लो...''

मायकल लोबो की जुबान थिरक रही है, उसी अंदाज में जैसे कभी शराब की महफिलों में थिरकती थी, यह चर्च का एक हिस्सा है...पर मुख्य

● गोविंद मिश्र

इमारत से दूर, एक किनारे पर, एक उपेक्षित पड़ा कमरा जो लोबो को हफ्ते में एक दिन एक घंटे के लिए इस्तेमाल को मिल जाता है. न यहां प्रार्थना-घर जैसी सजावट है और न ही वैसी गौरवमयी औपचारिकताएं, उलटे बेतकल्लुफी...यहां तक कि फूहड़पन है. हर शुक्रवार को यहां कोई भी आ सकता है और अपने बारे में कुछ भी कह सकता है. लोग शराब की अपनी कमजोरी से बात शुरू करते हैं—छोड़ने की कोशिशें, कोशिशों की असफलताएं, पीने की विवशताएं...और सरकते-सरकते अपनी दीगर कमजोरियों पर भी आ जाते हैं. शुरूआत लोबो ने खुद से की थी. अपनी कमजोरियां सबके सामने खोलकर रख दो तो वे ही तुम्हारी शक्ति बन जाती हैं, दो कमजोर लोग इस तरह आपस में एक-दूसरे की शक्ति बन सकते हैं. सबके बोलने के बाद लोबो सभी बातों को समेटकर सारांश प्रस्तुत करता है. बीस-पच्चीस आदमी-औरतें आते हैं, ज्यादातर मजदूर भाई और उनके परिवार के लोग. लोबो एक-एक के घर के बारे में, उनकी समस्याओं के बारे में जानता है, वक्त जरूरत उनमें से किसी के घर भी पहुंच जाता है, वकालत खर्च कमाने भर के लिए, बाकी लोबो पूरी तरह से इन्हीं लोगों में डूबा हुआ है...

''मैं पूरे सात साल सोया रहा. जागा तो बाहर जिंदगी कहां की कहां पहुंच चुकी थी. मैं उन सात सालों को फिर वापस नहीं ला सका. क्या तुम भी मेरी तरह सोते रहना चाहोगे...?''

लोबो की नजरें पुराने-नये चेहरों की भीड़ में किसी को खोजा करती हैं...वह जिसे लोबो खुद नहीं जानता, पहचान भी नहीं पायेगा. वह जो आया था और झिड़क खाकर चुपचाप लौट गया. लोबो को चलते रहना है...जब तक उस पीठ पर उछले घाव पुर नहीं जाते!

''तुममें से कोई मेरी बराबर क्या बरबाद होगा. यह मेरे बस का कभी नहीं था कि मैं शराब छोड़ सकता. यह तुम्हारे हाथ में भी नहीं है. इसलिए ओ मेरे भाइयों, मैं तुमसे कहता हूं कि शराब छोड़ने की चिंता छोड़ दो. चिंता यह करो कि ईश्वर से दूर क्यों हो. वह एक बार तुम्हें पास बुला ले...''

एक से एक बातें, रस से सराबोर...पता नहीं भीतर कहां उगती हैं और कैसे बाहर झर-झर झरती चली आती हैं जैसे हवा के हल्के झोंके से ही हरसिंगार के फूल बरसते चले आ रहे हों. सब सुन रहे हैं पर तुम कहां हो...यह जो मेरी नादानी से लौट गये? हर बार जब आदमी, आदमी को मरता है तो तुम इस तरह झेलते हो प्रभु? क्या इसीलिए तुम वहीं हो जहां दुख है, दर्द है, कष्ट है...?

लोबो के मुंह से डेविड की प्रार्थना के बोल जलती मोमबत्ती से मोम के धब्बों की तरह गिर रहे हैं...टप टप...

''प्रभु ! अपने तरीके मुझे जताओ,
अपने रास्ते मुझे दिखाओ
अपने सत्य में मुझे ले चलो, मुझे सिखाओ
क्योंकि तुम मेरी मुक्ति के देवता हो
सारा दिन मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में रहता हूं...''

● **22 बैल्वे डियर, भूलाभाई देसाई मार्ग, बंबई-36**

अकालग्रस्त

राकेश वत्स

क्या आदमी के भीतर केवल राक्षस ही होता है...? क्या यह संभव नहीं कि एक आदमी के भीतर राक्षस और देवता दोनों ही हों... पर कैसी होती है वह दैवप्रकोप की छाया... जो न केवल आदमी के तन-बदन को बल्कि मन और आत्मा तक को प्रभावित किये बिना नहीं रहती...? 'जंगल के आस-पास' जैसे उपन्यास के उपन्यासकार और 'सक्रिय कहानी' के सूत्रधार कथाकार राकेश वत्स की मार्मिक कहानी—

"अम्मा, मुझे बहुत भूख लगी है !"

"हां मेरी बच्ची, मैं जानती हूं !"

"अम्मा, मुझे भी बहुत ज्यादा भूख लगी है !"

"हां मेरे बेटे, मुझे मालूम है !"

"अम्मा मुझे लग रहा है कि मेरी आंखों के सामने अंधेरा ही अंधेरा है !"

"हाय मेरी बच्ची, मैं क्या करूं? मेरी छाती में दूध भी नहीं है कि जिसे पिलाकर इस जानलेवा अंधेरे से तुझे बचा लूं !"

"अम्मा, मेरी पीठ में जोरों की खुजली हो रही है ! मैं हाथ उठाना चाहता हूं पर वह उठ ही नहीं रहा है !"

"हाय मेरे लाड़ले, ला मैं तेरी पीठ पर खुजली कर दूं ! पर ऐसा करने से तेरे पेट की आग थोड़े ही बुझेगी, लेकिन मैं कर ही क्या सकती हूं? तू कोई बाघ या चीता होता मेरे बच्चे तो मैं अपनी देह का एक-एक अंग खिलाकर तुझे बचा लेती !"

सहसा नंदिनी को लगा कि बच्ची कुछ ज्यादा ही परेशानी महसूस कर रही है, अगर अब भी इसके पेट में कुछ ना गया तो मौत बिना कोई आवाज दिये आएगी और चुपके से इसे उठाकर ले जायेगी.

आखिर वह उठी. उसने कांपते हाथों से कूजे की बनी भगवान शंकर की एक छोटी-सी प्रतिमा डिब्बे से बाहर निकाली और उसको तुलसी के सूखे पत्तों के साथ उबालकर दोनों बच्चों को गरम चरणामृत की तरह पिला दी.

बाहर दामोदर उकड़ूं बैठा बूंदाबांदी में भीग रहा था, जैसे अंदर घट रही अनहोनी के साथ उसका कोई वास्ता ही न हो, जबकि थोड़ी देर पहले वह शेर की तरह दहाड़ रहा था, "मैं तो बस एक बात जानता हूं, मेरे बच्चों को अगर कुछ हो गया तो समझ लो कि मैं तुम्हें जिंदा नहीं छोड़ूंगा !"

नंदिनी ने दरवाजे पर खड़ी होकर उसे पीठ पीछे से देखा, कानों की लाली से अनुमान लगाया कि चेहरे की अकड़न अभी तक गयी नहीं होगी और आंखों में भी गुस्से की लाली उसी तरह कायम होगी.

उसने महसूस किया कि दैवप्रकोप की छाया दामोदर के तन-बदन पर ही नहीं बल्कि मन और आत्मा के अंदर तक पसर गयी है, बाहर की धरती की तरह अंदर की धरती भी पपड़ाकर फट गयी है जिसमें तरलता नाम की कोई चीज ही नहीं बची है. हे भगवान तो फिर अगला पड़ाव अब क्या होगा?...

जवाब में लगा कि किसी गुमनाम आवाज के रुदन-स्वर उसके ठीक कानों के पास गूंज रहे हैं. उन स्वरों में एक थोड़ा जाना-पहचाना भी है-दामोदर की दहाड़ का स्वर. साथ ही किसी कुत्ते के रोने की धीमी धीमी गुर्राहट भी है-शायद कलुआ की झुंझलाहट भरी गुर्राहट. हां रे, कल दोपहर से कलुआ कहां चला गया?...कहीं कोई उसे मारके तो नहीं खा गया?...

सहसा उसे बहुत साल पहले की किसी सती के चिता में जलने की घटना याद हो आयी. उस साल भी लोग अपने जानवरों को मारकर खा गये थे. एक बहुत ही सुंदर जवान-सी लड़की को चिता पर बिठाकर आग लगा दी थी, और वह लड़की गीता की पोथी में अपना मुंह छिपाकर बिना चीखे-चिल्लाये जलकर राख हो गयी थी. लेकिन इस पर भी इंद्र देवता प्रसन्न नहीं हुए थे. जब प्रसन्न हुए थे तो बाढ़ से सारे गांव बरबाद हो गये थे. कहीं इस साल भी फिर किसी सती को...

उसके माथे पर पसीने की बूंदें चुहचुहा आयीं. लगा कि चिता का ताप अब भी उसकी चमड़ी को झुलसा रहा है. उसने आधा गिलास पानी पीकर पल्लू से माथे का पसीना पोंछा, गले को उंगलियों से सहलाया, और फिर लंबी सांस खींचकर बाहर निकल आयी. कुछ पल वह ठिठकी, फिर मन पक्का करके दामोदर की तरफ बढ़ी और धीरे से उसके कंधे पर हाथ रखकर बोली, "चलो उठो, मुझे ले चलो!"

दामोदर ने उसे जलती आंखों से देखा, "लेकिन अभी अभी तो दनदना रही थी कि धर्म और इज्जत को मैं किसी कीमत पर नहीं जाने दूंगी?"

"नहीं, मैं गलत दनदना रही थी. बच्चों की जान के सामने धर्म और इज्जत का कोई मतलब नहीं !"

दूसरी सांस में ही वे दोनों फटी-पपड़ाई जमीन के बीचोंबीच बने पगडंडीनुमा सीले रास्ते पर चल रहे थे. आगे आगे दामोदर और पीछे पीछे रस्सी से बंधी गाय की तरह नंदिनी.

बढ़ते हुए पैरों के साथ नंदिनी के दिमाग में नौटंकी में देखी नल-दमयंती की कहानी भी चल रही थी. साथ ही साथ वह सोच भी रही थी कि राजा ने अपनी रानी को जब भरे जंगल में अकेली छोड़ा होगा तब भी जरूर बर जरूर कोई न कोई ऐसी ही मजबूरी रही होगी. भूख जब राजा-महाराजाओं को गिरा सकती है तो हम जैसों की उस के सामने क्या बिसात है?

पर दामोदर के दिमाग में एक दूसरी ही फिल्म चल रही थी-पूर्वजों की जमीन और उसको छोड़कर जाने वालों की फिल्म.

वह एक एक खेत के बीच बनी एक एक झोंपड़ी को देखता चला जा रहा था. साथ ही हिसाब भी लगाता चला जा रहा था कि कितने लोग इलाका छोड़कर चले गए हैं और कितने उसी की तरह पूरी जिद और हिम्मत के साथ टिके रहने के लिए संघर्ष कर रहे हैं.

चलते चलते उसकी नजर खजूर के पेड़ के सहारे खड़ी फत्तू की झोंपड़ी पर ठहर गयी. कितना जीवट है उस बूढ़े आदमी में और कितना पक्का है उसका मन. उसके कानों में फत्तू के बोले शब्द वीराने के मंदिर में बजने वाली घंटियों की तरह गूंजने लगे, "हमारे बाप-दादों और नकड़दादों ने इन झोंपड़ियों में महाकाल तक काट दिये. फिरंगियों का अत्याचारी राज तक झेल लिया. हमारे क्या ऐसे सुरखाब के पर लगे हैं कि हम इस छोटे-से सूखे को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते ! नहीं जी, हम तो यहीं रहेंगे. ठेकेदार की मदद बंद हो गयी तब भी यहीं रहेंगे. पुरखों के हाथों जंगल काटकर बनायी गयी इसी धरती पर. भले ही आज कानूनन यह धरती पुरखों की नहीं, जमींदार की कहलाती है, पर इसे तोड़ने में तो पसीना पुरखों का ही बहा है !"...

और दूसरी मुलाकात में फत्तू के मुख से ही रूह कंपा देनेवाली एक खतरनाक सूचना— "इलाका छोड़कर जाना भी अब इतना आसान नहीं रह गया है मेरे भाई! जानेवालों की जमीन और झोंपड़ी जमींदार साहब दंड के रूप में छीनकर उन काश्तकारों को बांटने का निर्णय ले चुके हैं जो इन मुसीबत के दिनों में उनका साथ देंगे, यानी कि भूख और प्यास सहकर यहां बने रहेंगे!"...

फत्तू और अपनी बेबसी के साथ-साथ उसे जमींदार साहब और उसके मुनीम की बेबसी का भी ध्यान हो आया-उसे लगा कि अपने हितों की रक्षा के लिए एक धनवान और चालाक आदमी ने, और उसके हाथों की कठपुतली मुनीम ने ठीक ही निर्णय लिया है. अगर बारिश होने के तुरंत बाद काश्तकार अपने खेतों में नहीं होंगे और जुताई-बुआयी ठीक वक्त पर नहीं हो सकेगी तो समझो कि जमींदार साहब की तो जमींदारी ही चौपट! ना उसको अपनी जमीन में उगा आधा अनाज मिलेगा और ना डेरी फार्म के विलायती डंगरों के लिये हरा चारा. उस नामुराद का तो चौखटा ही ढीला पड़ जायेगा सारा!...

पर साथ ही साथ उसका दिमाग बिलकुल सामने दिखायी देनेवाली मुसीबत को लेकर भी कुलबुलाने लगा! जमींदार साहब को इसबार अपने काश्तकारों को बीज की उधारी के लिये ठेकेदार जैसे कमीने लोगों के चंगुल से जरूर बचाना चाहिये. सूखे का मारा काश्तकार इतने बड़े सूद का बोझ कैसे बर्दाश्त कर सकता है भला, जब कि पहले से ही वह उसकी बहीं का पुराना कर्जदार है?

न चाहते हुए भी उसकी आंखों के सामने ठेकेदार का गदराया चेहरा नाच उठा. उसे लगा जैसे सूअर की गर्दन पर किसी बन-बिलाव का चेहरा फिट कर दिया गया है. देखो, कैसी-कैसी मीठी बातों से भोले-भाले लोगों को अपने चंगुल में फंसाता है यह कमबख्त- "चिंता क्यों करते हो भायी, हम अगर आप लोगों के ही काम नहीं आयेंगे तो भला किसके काम आयेंगे! बस, बैलगाड़ियां आने ही वाली हैं. जितना बीज चाहिये बिना किसी संकोच के उठा लेना. और देखो, दूसरों को भी यह खबर सुना देना, समझे!"

उसे लगा जैसे अब भी ठेकेदार उसके साथ-साथ चल रहा है और अपनी मूंछों में चाल डालकर बोल रहा है, "बड़े भाग्यवान हो दामोदर! जोरू तो ऐसी पायी है जैसे बिजली हो बिजली! जरा इसके कपड़े-लत्ते का तो ख्याल रखा कर! " उसके पांव एक झटके के साथ रुक गये—अरे, नंदिनी कहां है ! पीछे मुड़कर देखा तो नंदिनी बहुत दूर चली आ रही थी. उसे नंदिनी पर गुस्सा आया—भगवान औरत को बनाता जरूर है पर ठीक से चलना भी नहीं सिखाता.

इस सब के बावजूद, जब नंदिनी पास पहुंची तो उसके मन में आया कि वह नंदिनी से कहे—अगर ठेकेदार बहुत ज्यादा बत्तमीजी दिखाये तो तू बिना किसी बात की चिंता किये वापस चली आना ! देखो रुकना नहीं ! पर वह यह सब केवल आंखों से ही कह सका, जुबान से एक भी शब्द नहीं निकला—इस ख्याल से कि कहीं वह भावुकता में आकर लौट न जाये.

बारिश थोड़ी तेज हुई तो वे दोनों ठेकेदार के दरबार में हाजिर थे. दामोदर हाथ बांधे अपनी मजबूरी खुले रूप में स्वीकार कर रहा था, "हां सरकार, मैं प्यार बेचने आया हूं ! इतनी कीमती चीज को कौड़ियों के भाव. बोलिये-क्या दाम लगाते हैं इसका?"

ठेकेदार को दामोदर कुछ ज्यादा ही नशे में दिखाई दिया. उसने नंदिनी को सिर से लेकर पैरों तक गौर से देखा. वह बारिश में भीगी बकरी की तरह सिकुड़ी खड़ी थी और सिर झुकाए शीशों वाले मकान की पक्की जमीन को एकटक देख रही थी.

बाहर बिजली कड़क रही थी और दरवाजे से आने वाली हवा के झोंकों में नमीदार ठंडक थी. पिंजरे की मैना एक तरफ दुबक कर बैठी थी, तोता भी गर्दन समेटे टुकुर-टुकुर झांक रहा था. सिर्फ विलायती चिड़ियां थीं जो फुर्र-फुर्र उड़कर चुर्र-चुर्र गा रही थी. ठेकेदार को परिंदे पालने का बहुत शौक था.

ठेकेदार ने पिंजरा घुमाकर तोते से पूछा, "क्यों गंगाराम, मिरची खाएगा? बहुत तीखी मिरची आयी है आज हमारे पास !" इसके साथ ही वह खिस्स करके हंस पड़ा और दांतों पर तर्जनी उंगली फिराकर फिर से जबड़ों को धीरे-धीरे चलाने लगा.

इसके बाद वह आस्तीनें चढ़ाकर गद्देदार आरामकुर्सी पर पसर गया. कुछ पल उसने अपने बाएं हाथ को पूरा खोलकर दामोदर की गुहार का जवाब दिया, "तन में प्रेम थोड़े ही होता है, प्रेम तो मन में होता है. मैं समझूं कि अपनी जोरू का मन भी तुम तन के साथ मुझे बेच रहे हो?"

दामोदर के माथे पर बल पड़ गए. यह तो उसने सोचा ही नहीं था. वह नंदिनी के शरीर पर मुग्ध था. गदराए-चिकने-सांवले बदन पर. खासतौर पर उसे नंदिनी की हिरनी जैसी बड़ी बड़ी आंखों में प्यार दिखाई देता था. वह इन आंखों से उसे देखती थी तो उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता था, दिल की धड़कन तेज हो जाती थी. उस वक्त उसे लगता था कि औरत भगवान की दी हुई सबसे बड़ी नियामत है. उसके बिना आदमी अधूरा है. इसी अधूरेपन को पूरा करने वाली किसी चीज को ही प्रेम समझता था. सो आज वह उसी प्रेम को बेचने आया था. उसने आगे बढ़कर नंदिनी के सिर पर हाथ रख दिया, "नहीं साहब, यह अपना मन भी तन के साथ आपको बेचेगी...जरूर बेचेगी !"

ठेकेदार को याद हो आयी वे आंखें जिनसे प्रेम नहीं बल्कि घृणा बरस रही थी. एक दोपहर उसने अपना हाथ फैलाकर नंदिनी की खुली पीठ को छुआया भर था कि वह नागिन की तरह बिफर कर फुंकार उठी थी. लकड़ियों का बोझा सिर पर से जमीन पर पटक ऐसे घूरने लगी थी जैसे उसे कच्चा चबा जाएगी.

सब कुद याद आते ही ठेकेदार की मुस्कराहट और भी अधिक गाढ़ी हो गयी और वह बिल्ली नस्ल के जानवरों के उस पैत्रिक स्वभाव में पहुंच गया जिसमें वे अपने शिकार को एकदम मारना पसंद नहीं करते, बल्कि मारने से पहले उसके साथ जी भरकर खेलना पसंद करते है. उसकी उंगलियां फिर हाथ की पीठपर चलने लगीं, "लेकिन इसका सबूत क्या है कि यह अपना मन भी हमें बेच रही है?"

"सबूत यह खुद देगी साहब ! नंदो, दे दो सबूत ! बोलो कि मैं तन के साथ अपना मन भी बेच रही हूं !"

नंदिनी दामोदर के बाजू के साथ झूलकर उसके पैरों में जा गिरी, "नहीं, मन नहीं मन मेरा अपना नहीं है, बिलकुल नहीं !" और साथ ही दहाड़ मारकर रो पड़ी.

ठेकेदार का चेहरा बुझ सा गया. होठों की मुस्कान सिकुड़न में बदल गयी. माथे पर गहरे बल डालकर वह गुर्राया, "यह सब क्या है? हटाओ, इसको हमारे सामने से हटाओ !"

"कैसे हटाएं साहब !" दामोदर को लगा कि भेड़िया जान लेने के बाद लहास को खाने से इनकार कर रहा है, "फत्तू के हाथ आपने कहलवाया नहीं था कि अगर मैं अपनी जोरू को फकत एक रात के लिये आपके हवाले कर दूं तो आप मेरे सारे गुनाह मुआफ कर देंगे ! और इतना ही नहीं बल्कि ईनाम के तौर पर इतना अनाज देंगे कि इन मुसीबत के दिनों में हमारे बच्चों को पेट पर हाथ रखकर चीखना-चिल्लाना नहीं पड़ेगा !"

बहुत अर्से बाद ठेकेदार नंदिनी की पराजय को भोगने की सहूलियत में आया था. उस दुश्मन औरत से बदला लेने की सहूलियत में, जिसने अपनी औकात भूलकर उसको अपमानित करने का साहस किया था. ...

उस दिन शाम तक जंगल काटनेवाले मजदूरों में यह खबर आग की तरह फैल गयी थी कि दामोदर की जोरू ने ठेकेदार के गाल पर तमाचा जड़ दिया है. इस खार से उसे अपने दोस्तों तक में मजाक का भागी बनना पड़ा था.

उसने दामोदर की छटपटाहट से भरी बात का जवाब बड़े ही ठंडे मन से दिया, "लेकिन यह सब तो तभी हो सकता है अगर औरत अपने मन से आये, जबरदस्ती का खेल खेलना तो हमने बहुत देर पहले से बंद कर दिया है !"

नंदिनी भी ठेकेदार के मन की टीस को पहचानती थी. उसे इतनी समझ तो जरूर ही थी कि अब ठेकेदार से उस व्यवहार की आशा करना मूर्खता होगी, जिसकी एक औरत किसी मुग्ध आदमी से किया करती है. फिर भी वह दामोदर के साथ चली आयी थी. आती नहीं तो और क्या करती. उधार भी अगर कहीं से मिलना था सो वह भी तो ठेकेदार से ही मिलना था.

बाहर जोर की बिजली कड़की, और साथ ही बादल भी दनदना उठे. नंदिनी ने एक बार शीशे के बाहर के बादली अंधेरे का जायजा लिया. लगा कि बिजली की चौंध में उसकी झोंपड़ी उसके सामने चमक रही है. फिर उसने बच्चों की तरह हथेलियों से आंखों का पानी पोंछा और धीरे-धीरे चलकर ठेकेदार की बगल में जा खड़ी हुई. पति द्वारा मन बेचने के सौदे से सहमत होने का सबूत बस वह इसी तरह पेश कर सकती थी.

अब दामोदर की आवाज भी भर्रा उठी, "लीजिये साहब, आपको सबूत मिल गया. अब आप जल्दी से मुझे पैसे और अनाज दें, ताकि मैं घर पहुंच-कर अपने बच्चों और गिरनेवाली झोंपड़ी की खबर-सार लूं !"

नंदिनी ने गर्दन घुमाकर दामोदर के जुड़े हुए हाथों की तरफ देखा. उसे लगा जैसे वह पांचों पांडवों की प्रेतात्मा है, और वह खुद दुर्योधन की आत्मा के सामने खड़ी पांचाली.

ठेकेदार की मूंछों में हल्की मुस्कान की छाया फिर कौंधी. पर उसके माथे पर गहरे बल ज्यों के त्यों बने रहे. वह कुछ पल दामोदर के नंगे सुडौल बदन की तरफ गौर से देखता रहा. मन में आया कि इस भालू जैसी पुष्ट देह का क्या मतलब, जो अपनी ब्याहता पत्नी की भी इज्जत की रक्षा नहीं कर सकती.

वह घुटनों पर हाथ रखकर खड़ा हो गया, "हे प्रभु !" इसके बाद खीसे में से नोटों का बड़ा-सा बंडल निकालकर उसने कुछ पुराने नोट छांट-छांट-कर अलग किये और कुत्ते के सामने फेंके जानेवाले टुकड़ों की तरह दामोदर के सामने उछाल दिये.

दामोदर ने हवा में छितरे नोटों को बड़ी ही मुस्तैदी के साथ बीन लिया और फिर बड़े ही अधिकार के भाव से बोला, "और अनाज सरकार?"

ठेकेदार उसे पीछे आने का इशारा करके बाहर निकल गया.

दामोदर चलने को हुआ तो नंदिनी ने आगे बढ़कर उसका हाथ थाम लिया, "देखो, सिलबट्टे के नीचे बीड़ियों के साथ माचिस की डिबिया संभालकर धरी रक्खी है. जाते ही उठा लेना, कहीं सील ना जाये !...और देखो, दोनों बच्चों को बार-बार गाल चूमकर मेरा प्यार देना !" इसके साथ ही वह पल्लू में मुंह छुपाकर रोने लगी.

दामोदर ने धीरे से उसका कंधा थपथपाया, जैसे कह रहा हो अब तुम घर की चिंता करना छोड़ो. फिर वह तुरंत ही नोटों को लुंगी के लड़ के बीच लपेटता हुआ भागकर बाहर चला गया और ठेकेदार के पीछे-पीछे चलने लगा.

ठेकेदार ने चाभी लगाकर गोदाम का ताला खोला, और फिर झीने अंधेरे की तरफ उंगली उठाकर बोला, "वो सामने गंदम और चावल की बोरियां लगी है, जो जी में आये एक बोरी उठा लो !"

दामोदर ने जिन बोरियों के पास चावल बिखरे देखे उनमें से एक को झटके के साथ दूसरी बोरियों पर खड़ा किया और फिर बड़ी ही सहजता के साथ पीठ पर लादकर गोदाम से बाहर हो गया.

ठेकेदार बुत बनकर उसे नंगे पैर जाते देखता रहा. खयाल आया कि विदा होते वक्त वह एक भी शब्द नहीं बोला, यहां तक कि एक बार मुड़कर भी नहीं देखा, जब कि आते और जाते वक्त झुककर सलाम करना इसका जन्मजात स्वभाव है.

उसे जाता हुआ दामोदर एक बदला हुआ आदमी लगा. सवाल उठा कि वह कौन-सी चीज है जो आदमी को एकदम अपने स्वभाव और संस्कार से काट देती है?

जवाब मिला —"भूख!"

उसने अपने आपको टटोला. वह हैरान हुआ कि उसके खून में भूख का नामोनिशान भी नहीं था. भूख की जगह उसे अपने मन पर विनाशलीला की एक झीनी-सी छाया जरूर मंडराती दिखाई दी. उसने अपने आप को थोड़ा डरा हुआ भी महसूस किया. इस खयाल के साथ कि अब गरीब आदमी इतना भोला और सादा नहीं रहा कि उसको जिस बर्तन में चाहो तेल की तरह ढाल लिया जाये. इस के अलावा आजकल उसे इस दूरदराज इलाके में सूखे के प्रभाव का जायजा लेने के लिये हैलिकाप्टर पर बैठकर किसी मंत्री के आने का भी पूरा अंदेशा था.

उसने ताले को बंद करके चाभी को बंडी की जेब में रखा और फिर उसके पैर नंदिनी के पास जाने से पहले दामोदर के हिसाब का कागज फाड़ने के लिये तहखाने की अलमारी की तरफ चल दिये.

चलते चलते दामोदर की नजर अचानक पोखर के कीचड़ में उभरे काले सींग पर जा पड़ी. वह ठिठक गया—जरूर इसके साथ पशु का पंजर भी होगा.

लेकिन हड्डियां उठाकर ले जाने वाले जमींदार के आदमी इस पंजर को अनदेखा कैसे कर गये? जरूर उनमें से किसी बेईमान ने खेत में से पंजर उठाकर इस कीचड़ में दबा दिया होगा, ताकि अंधेर-सबेर निकालकर व्यापारी के हाथ बेच सके. पर इस अनुमान की सचाई पर उसे थोड़ी शंका भी हुई. उसका मन हुआ कि वह इस तर्क पर दृढ़ता से जमे कि पंजर चाहे इस कीचड़ में किसी भी तरह आया हो, उसका अधिकार है कि वह उसे अपने हित में इस्तेमाल कर ले.

फिर उसका विचार बना कि नहीं नहीं, पंजर निकालकर वह जमींदार साहब को सौंप देगा. कितने खुश होंगे वे और उसके मुनीम उसकी इस तरह की ईमानदारी को देखकर. आजकल के जमाने में ईमानदारी कहां मिलती है? पैसे तो उसके पास है ही, इस वक्त भी ईमानदारी नहीं दिखाएगा तो और कब दिखाएगा !

साथ ही उसे इस खयाल ने भी तकलीफ पहुंचाई कि यह पंजर उसे ठेके-दार के पास जाते वक्त ही क्यों नहीं दिखायी दे गया. ऐसा हो जाता तो वह वहीं से लौट जाता, आगे बढ़ता ही क्यों !

पिंजर के बारे में इसी तरह सोचता-विचारता अभी वह खजूर के कुंज के पास ही पहुंचा था कि उसे लगा कि दोनों बच्चे कीचड़ वाली बावड़ी के बीच घुसे पेंदे रहित टोकरी को कीच पर रख रखकर मछलियां पकड़ने की कोशिश कर रहे है. बिलकुल वैसे ही जैसे कई दिनों से नंदिनी जगह जगह की बावड़ियों में अपनी मेहनत बेकार करती रही थी.

उसने पूरी ताकत के साथ हांका लगाया, "देखा, बरफी, देखो मैं क्या लेकर आया हूं ! छोड़ो यह बेकार का धंधा और आकर भात खाओ !"

लेकिन बच्चे कहां थे? यह तो मात्र उसका वहम था, थकी पुतलियों की मृगतृष्णा थी, मन के अंदर की एषणा थी जो दिवा-स्वप्न की तरह साकार हो उठी थी.

अब उसको याद आया कि बच्चे तो भूखे-प्यासे झोंपड़ी में पड़े हैं. उनके शरीर में इतनी ताकत ही कहां रह गई है कि वे इस तरह उछल उछल कर मछलियों का शिकार कर सकें. नंदिनी ने उन्हें सिर्फ गर्म पानी ही तो पिलाया था. उसे भी वह गर्म पानी का हिस्सा जरूर देती, अगर उसने उसके साथ झगड़ा न किया होता तो...

लेकिन झगड़ा न करता तो और क्या करता?...बर्दाश्त की भी तो एक सीमा होती है. यह टके का हाड़मांस का शरीर ज्यादा कीमती चीज है या बच्चों की जिंदगी? औरतें तो अपने बच्चों के लिये जान तक कुर्बान कर देती हैं. यह बक रही थी कि...

लेकिन तू क्या कुर्बान कर रहा है दामोदर?-अचानक उस के अंदर से एक जलता हुआ सवाल फूट पड़ा. जवाब के रूप में उसकी छाती में अजीब-सा दर्द उठा और उसे जोर के खांसी के तूफान ने घेर लिया. कुछ देर तक तो वह उस तूफान के साथ लड़ता रहा. बस से बाहर हो गया तो बोरी को एक तरफ पटक दुहरा होकर जमीन पर बैठ गया.

झोंपड़ी अब बिल्कुल सामने दिखायी पड़ रही थी. सवाल उठा कि चूल्हे में गीली लकड़ियां जलाकर भात बनाएगा कौन?...लगा कि नंदिनी चूल्हे के पास बैठी रोटियां बना रही है. वह उसके सामने पालथी मारकर बैठा फूली फूली रोटियां खा रहा है. वह ना-ना करते हुए भी गर्म-गर्म रोटी उसकी थाली में डाल देती है. "बस सिर्फ यही एक रोटी, तुम्हें मेरी कसम !" इसमें कसम दिलाने की क्या जरूरत होती थी भला?...उसके मुंह से फिसल गया, "औरत जात बड़ी भावुक चीज होती है !"

लेकिन ना-ना करते हुए भी उसका अपना भावुक मन ठेकेदार के मकान की तरफ लौट चला-घर की निकाली हुई दारू पीकर वह सूअर का बच्चा पता नहीं नंदो के कोमल शरीर के साथ कैसा व्यवहार कर रहा होगा?...

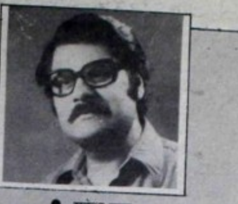

● राकेश वत्स

सहसा उसकी आंखों के सामने एक काल्पनिक दृश्य कौंध गया. बरसात में भीगी हिरनी और एक कद्दावर भूखा खूंखार बाघ. छलांग भरकर बाघ ने हिरनी की गर्दन दबोच ली और हिरनी बिना चीखे-चिल्लाए बाघ के जबड़ों में फंसकर छटपटाने लगी.

उसे लगा कि इतनी ठंडक में भी उसकी छाती पर पसीना सरसरा रहा है और पांव हैं कि जैसे उनके साथ किसी ने पत्थर बांध दिये हैं. उसके सामने सवाल आया कि यह मात्र एक टके के शरीर का सवाल है? जवाब मिला नहीं, यह शरीर नहीं बल्कि शरीर से बिलकुल बाहर की किसी दूसरी चीज का सवाल है. सवाल फिर जागा कि वह कौन सी चीज है? उसने महसूस किया कि इस सवाल का जवाब उसके पास नहीं है...

चिंतन किसी दूसरी दिशा में मुड़ गया—आदमी के अंदर केवल राक्षस ही तो नहीं होता. उसकी आत्मा के कोने में कहीं देवता भी तो बैठा होता है. नंदिनी को देखते ही आदमी के अंदर का देवता जाग उठता है—उसने अपने आपको तसल्ली देनी चाही. और इस तसल्ली ने उसके सामने एक दूसरा ही दृश्य पेश कर दिया—

ठेकेदार ने आगे बढ़कर नंदिनी के सिर पर हाथ रख दिया, "डरो नहीं नंदो देवी ! जाओ अपने घर जाओ. तुम मेरी तरफ से आजाद हो !"

"लेकिन आपने तो..."

"पैसे देकर तुम्हें एक रात के लिये खरीदा है, यही ना !"

"जी !"

"मैंने एक घमंडी औरत का घमंड तोड़ना चाहा था सो तोड़ दिया. अब तुम घर जाओ, तुम्हारे बीमार बच्चे तुम्हारा इंतजार कर रहे होंगे !"

"मैं और मेरा पति आपका यह एहसान जिंदगी भर नहीं भूलेंगे !"

"एहसान की कोई बात नहीं है. आज के बाद तुम्हारा पति भी मेरे कर्ज से पूरी तरह आजाद रहेगा. कुछ दिन बाद बुआई के लिये बीज की जरूरत पड़ेगी. दामोदर से कह देना कि वह मेरे पास आए और बिना किसी हिचक के बीज ले जाए !"

दामोदर के पैर एक बार फिर ठिठक गए. उसे लगा कि उसकी झोंपड़ी के सामने के पीपल के पेड़ पर कहीं से आम के फल निकल आये हैं और पीपल की टहनियों पर रंग-बिरंगे पक्षी अपने स्वभाव के मुताबिक रहने के लिये घोंसले बना रहे हैं. नंदिनी मुट्ठियां भर-भर कर उन पक्षियों के सामने चावल के दाने बिखेर रही है और पक्षी बिना डरे-बिना सहमें उन दानों को चुग रहे हैं.

पर झोंपड़ी में पहुंचने के बाद उसने जो कुछ देखा वह इससे बिलकुल विपरीत था. दोनों बच्चे अपनी अपनी जगह पर लेटे छत से टपकते पानी में भीग रहे थे. जमीन पर दो-तीन जगह धार गिरने की वजह से गड्ढे-से बन गए थे और बोरी रखने के लिये भी कहीं पूरी तरह से सूखी जगह दिखाई नहीं दे रही थी.

उसने बोरी को धम्मी के साथ सटाकर बरफी के ऊपर से गीला कपड़ा हटाया. उसे एक सूखे कपड़े में लपेटकर उस जगह लिटाया जहां की छत पर खजूर की सफ डली होने के कारण पानी कम टपक रहा था. लड़के को भी उसने उसी जगह पहुंचाया. उसके बाद बोरी खोलकर चावल निकाले और

उन्हें अलमोनियम के बर्तन में डालकर चूल्हे पर पकने के लिये चढ़ा दिया.

अब वह बच्ची के पास बैठ गया. प्यार से उसका बदन सहलाया. सिर के बाल ठीक किये. फिर उसका गाल चूमकर गाल के पास धीरे से फुसफुसाया. "मेरी प्यारी बिटिया बड़ी बहादुर है. अभी भात तैयार होता है, बस जी भरकर खाना !"

बच्ची ने भात का नाम सुनते ही थोड़ी आंखें खोलीं और धीरे-धीरे होंठ हिलाकर कुछ कहना चाहा. वह तुरंत समझ गया कि पानी मांग रही है.

उसने बच्ची को पानी पिलाया. देवा को भी पानी दिया. फिर वह सिलवट्टे के नीचे से बीड़ी निकालकर बड़े ही इत्मिनान से धुआं उड़ाता हुआ भात पकने का इंतजार करने लगा.

सुबह से पहली बार तंबाखू का धुआं हलक के नीचे उतरा था. उसने काफी अच्छा अनुभव किया. बच्चे भी लगभग ठीक ही हैं. घर में चावल की बोरी भरी रखी है. जमींदार को पंजर का पता बतायेंगे तो इज्जत भी काफी बन ही जायेगी. और झोंपड़ी की मरम्मत करवाने के लिये पैसे उसके पास हैं ही. और क्या चाहिये इस जीवन में उसे? पर नंदो? उसे नंदो चाहिये ! उसका ध्यान फिर ठेकेदार की घर की निकली दारू की तरफ चला गया. और इस बार उसके सामने एक और ही दृश्य आ धमका...

नंदिनी ठेकेदार के सामने टूटी हुई बोतल का अगला हिस्सा त्रिशूल की तरह दोनों हाथों में थामे महाकाली बनी खड़ी है. वह बार-बार ठेकेदार को अपने पास न आने की चुनौती दे रही है. पर नशे में धुत्त ठेकेदार निडर भालू की तरह आगे बढ़कर उसको आलिंगन में दबोच लेता है. पलभर में ही बोतल का तीखा कांच गचर की आवाज के साथ ठेकेदार की बगल में उतर जाता है. खून का एक फव्वारा फूटता है और ठेकेदार वहीं फर्श पर गिरकर दम तोड़ देता है. और फिर इसके बाद...

दामोदर ने घबराकर अपनी आंखों पर हथेलियां गड़ा लीं. पर सिनेमा के अंधेरे में किन्हीं दूसरे पात्रों के साथ देखा यह दृश्य और भी अधिक चमकता हुआ दिखाई देने लगा. वह हड़बड़ाकर खड़ा हो गया और दरवाजे पर पहुंचकर घुमड़ते हुए बादलों का नजारा लेने लगा.

इसी समय बिजली जोर की चमकी और साथ ही बादलों की भरपूर गर्जना के साथ बारिश मूसलाधार बन गयी.

दो पल में ही झोंपड़ी की टपकन भी धाराओं में बदल गयी. उसने भीगती चीजों को उठाकर बच्चों के आसपास सजा दिया. क्यों कि अब वहीं एक सुरक्षित जगह थी जहां कुछ बचाया जा सकता था. खुद थम्मी के साथ पीठ लगाकर बैठ गया और भात पकने का इंतजार करने लगा.

अचानक उसे लगा जैसे कहीं तोता बोल रहा है. तोता और इस वक्त बारिश में इस झोंपड़ी के पास? वह हड़बड़ाकर बाहर निकल आया और आवाज के सहारे तोते तक अपनी नजरें पहुंचाने की कोशिश करने लगा.

नजरें पहुंचीं तो उसे तोता पीपल के पत्तों में छुपा बैठा दिखायी दिया. गले में दो कण्ठे. पैरों में झांझर और भीगे पंखों में से वही पहचाने रंग झांकते हुए.

"अरे यह ठेकेदार का तोता यहां तक कैसे चला आया !" दामोदर ऐसे चीखा जैसे वहीं से अपनी आवाज ठेकेदार तक पहुंचा देना चाहता हो. पर एक नया विचार आते ही वह गुमसुम भी हो गया—पर इस तोते को पिंजरे से निकाला किसने? किसने आजाद कर दिया तोते को? तो क्या सचमुच में नंदिनी ने ठेकेदार को...

दिल में आया कि आगे बढ़कर नंदिनी के पास पहुंच जाए. हो सकता है वह सचमुच मुसीबत में हो और उसे उसकी मदद की जरूरत हो. वह भागता हुआ बहुत आगे तक बढ़ा भी. पर एक अनजाने भय ने उस के पैरों को जकड़ लिया. उस मूरख ने अगर सचमुच में ही ऐसा कर दिया हुआ तो?...अगर ठेकेदार के आदमियों ने उसे पकड़कर कस्बे के पुलिस थाने पहुंचा दिया तो?...वह धीरे-धीरे चलकर झोंपड़ी में लौट आया और थम्मी के साथ माथा लगाकर खड़ा हो गया.

देवा की चौंका कर देने वाली आवाज उसके कानों के साथ टकरायी. "बापू, भात !"

उसने मुड़कर देखा—पतीले का ढक्कन छद छद करके उछल रहा था और उसके नीचे से निकल निकल कर दूधिया पानी बाहर गिर रहा था. उसने उसे संभाला और फिर ध्यान दिया कि एक जानी-पहचानी खुशबू है जिससे एक मुद्दत बाद उसकी झोंपड़ी का खालीपन महका है.

उसने ढूंढकर मिट्टी के तीन कटोरे बाहर निकाले. उनको साफ पानी से साफ किया. फिर बच्चों के कटोरों में पतला-सा भात निकालकर वह बारी-बारी से उनको पिलाने में व्यस्त हो गया.

अब हवा तेज होकर पानी की बौछार को चूल्हे तक भी पहुंचाने लगी थी. लेकिन उसे कोई चिंता नहीं थी. भात पककर तैयार था और वह बच्चों को पहले मांड और उसके कुछ देर बाद भात के दाने देने की सहूलियत में था.

बरफी को मांड पिलाते पिलाते अब उसका ध्यान चूल्हे की आग की तरफ गया. वह उसे पहले छन्न-छन्न की आवाज के साथ धीमी पड़ते और फिर धुआं छोड़कर बुझते साफ देखता रहा. इस वक्त उसे इस एहसास ने जकर कचोटा कि नंदिनी होती तो इस आग को वह कभी न बुझने देती. अपने तन-बदन को छतरी की तरह तानकर केवल मुझे और बच्चों को ही नहीं बल्कि घर की हर चीज को भीगने से बचा लेती. इस मुसीबत के मौके पर भी हंस-हंस कर सब को प्रसन्न रखती. तुलसी के सूखे पत्तों की बिना दूध और मीठे की चाय बनाकर सारे परिवार को पिलाती और खुद कागज को गोल करके बिना तंबाखू की बीड़ी सुलगाकर एक तरफ बैठी ममतामयी आंखों से सब को निहारती रहती.

पर दूसरे ही पल उसके अंदर के अकाल ने कामधेनु की शक्ल को एक भेड़ की शक्ल में तब्दील कर डाला. उसके मुंह से निकल गया, "भेड़ चाहे किसी के हाथ से क्यों न मुंडे आखिर उसे मुंडना ही है !" साथ ही उसने बच्चों के पास से उठकर अपने कटोरे को गर्म-गर्म भात से किनारों तक भरा और उसे दो ईंटों की ऊंची जगह पर सजाकर पालथी मारकर बैठ गया.

बमुश्किल दो-चार कौर ही उसके अंदर गये होंगे कि दरवाजे के बीच दिखायी देनेवाली रोशनी का दृश्य देखकर वह हक्का-बक्का रह गया. सामने बारिश में भीगती हुई नंदिनी चली आ रही थी. इस तरह के उतावलेपन के साथ जैसे हाथों से बंधा कोई आदमी डूबने से बचने के लिये केवल पैर चला रहा हो—जल्दी-जल्दी.

कुछ देर वह उसे एकटक घूरता रहा. जैसे अपने काल्पनिक दृश्यों में से किसी एक को उस पर फिट बिठाने की कोशिश कर रहा हो. फिर हाथ का कटोरा उसने एक तरफ रख दिया और एक चौथे कटोरे की तलाश करने लगा. जैसे ठेकेदार के यहां से छूटे तोते के लिये पिंजरा तलाश कर रहा हो. □

● ७७-बी, शास्त्री कालोनी, अंबाला छावनी (हरियाणा)

श्लील बनाम अश्लील

□ नामवर सिंह

सेक्स-संबंधी बाजारू कथा-कृतियों को केवल असाहित्यिक कह देना ही काफी नहीं है. जो यह कहते हैं कि कलाकृति अश्लील हो ही नहीं सकती क्योंकि यदि वह अश्लील है तो कलाकृति नहीं है वे खामखाह अपने को एक दूसरे जटिल विवाद में डालते हैं. किस रचना को कलाकृति कहें और किसे नहीं —यह प्रश्न अश्लीलता के प्रश्न से कहीं अधिक जटिल है. □

खेल खेलने की भी एक उम्र होती है, और बचपन में खेले जानेवाले खेलों की तो निश्चित ही.... मगर ऐसा क्यों होता है कभी-कभी कि बचपन में शुरू हुआ खेल ता-उम्र चलता रहे... ? किनके बीच होता है यह अविराम खेल....क्यों जारी रह पाता है यह इतने लंबे समय तक.... ?

चीं-घोड़ी

स्वयं प्रकाश

पांचवें दशक में कितने लोग सोच सकते होंगे कि मनुष्य अंतरिक्ष में भी जा सकता है ! या १९६७ में भी कौन कह सकता था कि मनुष्य चंद्रमा पर उठ से चलेगा ! अभी दो साल बाद ही ! जमाना इतनी तेजी से बदल रहा है कि जनवरी में कुछ पता नहीं चलता कि दिसंबर तक क्या-क्या हो सकता है. एक साल बाद जाओ तो खुद अपना शहर पहचानने में दिक्कत आ जाती है.

लेकिन बहुत लोगों का जीवन इतनी तेजी से नहीं भी बदलता. वे एक ठहरे हुए-से पोखर में कतरा-कतरा अपना दुख जीते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने पुरखों की तरह बीतते रहते हैं. समय द्वारा उन पर भी बदलाव थोपा ही जाता है—पर वह सुखद नहीं होता. वे गुजरे जमाने की सस्ताई को याद करते हैं, अंग्रेज बहादुर की हुकूमत की तारीफ करते हैं और तत्क्षण भूल जाने के लिए रोज भविष्यफल पढ़ते हैं.

इसलिए जब मैं दस साल बाद अपने शहर में पहुंचा तो यह देखकर हैरान नहीं हुआ कि हमारी सड़क जेलरोड अब पहचानी नहीं जाती ! पूरी जेलरोड पर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं खड़ी हो गयी हैं और पूरी सड़क पर पेड़ एक भी नहीं बचा है. हमारे मकान के ठीक बाहर बड़ का क्या बड़ा पेड़ था ! ऐन सड़क पर और क्या मस्ती में हम वहां डाउन-डाउन, आइस-पाइस या चीं घोड़ी खेला करते थे !

लेकिन आश्चर्य कि सत्यविजय होटल लगभग वैसा ही था. बांयी तरफ एक तीन मंजिला गुलाबी इमारत...नीचे ड्राइक्लीनर की दुकान, ऊपर वकीलों के दफ्तर, और दाहिनी तरफ इससे जरा पुरानी पीली तिमंजिला इमारत...नीचे बजाज का शो रूम और ऊपर भूतपापेश्वर का गोदाम. उससे भी ऊपर पता नहीं कौन-सी संस्था या कौन-कौन सी संस्थाओं के कार्यालय. दोनों इमारतों के बीच फंसा-धंसा पुराना-बोसीदा, इकमंजिला, खपरैल की

छतों वाला सत्यविजय होटल-दूसरे नमूने का बोर्ड लगने के बावजूद लगभग वैसा ही जैसा-मेरी स्मृति में सुरक्षित था. जैसे दो खूबसूरत चटख कमसिनों के बीच दोनों कंधे थामे कोई झुकी रीढ़ का लगभग अंधा बूढ़ा ! जैसे दो चौंधियाते नियोन साइन के बीच टिमटिमाता जीरो वॉट का दरिद्र लट्टू ! जैसे बेवजह नाजायज तरीके से नर्सरी स्कूल के बच्चों के बीच आ खड़ा हुआ किसी महरी का निकर उचकाता, नाक सुड़काता छोरा. सत्यविजय होटल की वह काबिले दाद ढीठता थी कि वह अब भी, वैसा ही खड़ा था. जैसे लालू.

नहीं, लालू नहीं. पर लालू की बात बाद में.

एक समय था जब यही सत्यविजय होटल ग्राहकों की गहमागहमी, जलेबी पोहे और पेसल कड़क की चिलपुकार और किसी कुर्सी के खाली होने के इंतजार में खड़े लोगों की भीड़ से भरा रहता था. छोकरे दिन में दस बार झाड़ू लगाते थे. रेजगी वसूल करते गल्ले पर बैठे रोड़जी के पसीने निकल जाते थे. बांसवाड़ा राजस्थान से आये दो ब्राह्मण भाइयों ने अपनी चाय के बादशाही स्वाद से पूरे जेलरोड की होटलों को फीका कर दिया था. आगे होटल पीछे घर. बाल-बच्चे राजस्थान. साल में एक महीने के लिए देस जाते. कान में मुरकियां पहनते. कच्छी धोती बांधते. ग्राहकों से मीठा बोलते और (लोग कहते थे कि) चाय में अफीम के डोंडे मिलाते. एक बार सत्यविजय की चाय मुंह लग जाती तो और कहीं की अच्छी लगती ही नहीं. अब तो खाली पड़ा है.

होटल खाली पड़ा था.

वही पत्थर की मेजें और लकड़ी की पुरानी कुर्सियां—जो बचपन में मुझे बहुत बड़ी-बड़ी लगा करती थीं. वही तीन फूल पांखुरी जैसी ताड़ियोंवाला बांका-सा छतपंखा. वही दीवारों पर रासलीला और चीरहरण के अपने भीतर उतार लेनेवाले पुराने चित्र. गल्ले पर नीले रंग के शंकर जी. कोने में खुंसी सस्ती अगरबत्तियां.

दो छोरे थे. एक काउंटर पर अकड़कर बैठा था, दूसरा भट्टी पर. मैं कोने की मेज पर जाकर बैठ गया. शायद दोनों में इस बात पर बहस हो रही थी कि गिराक से ऑर्डर लेने कौन जाये ! काउंटर वाला छोटा था, पर रौब झाड़ रहा था. भट्टीवाला मुस्कुराहट में फिसलते अपने रौब को सम्हालता हुआ तर्क दे रहा था कि भट्टी वाले का बार-बार उठना निषिद्ध है. आखिर काउंटर वाला ही आया और आवाज को भरसक मोटी बनाने की कोशिश करता हुआ मुझसे बोला, ''चा?''

मैंने उसे पास बुलाकर पूछा, ''लालू कहां है?''

वह डर-सा गया और चुपचाप भीतर चला गया.

लौटा तो पीछे-पीछे एक ऊंचा-पूरा-मोटा-तोंदवाला अधेड़-सा आदमी. सिर पर छोटे-छोटे बाल, माथे पर टीकी, बंडी और कच्छी धोती. ''हां?'' करके खड़ा रहा मेरे सामने? मैं चुपचाप देखता रहा. वह पहचान लेगा अभी. फिर लिपट जायेंगे, हंसेंगे जी खोलकर. वह नहीं पहचाना. परेशान होने लगा.

''लालू?''

''हां, बोलिए...''

''मैं सप्पू हूं.''

वह चकित नहीं हुआ. झीना-सा मुस्कुराया. हाथ मिलाया-अच्छा मजबूत हाथ. अच्छे दाब के साथ. टेबल सरकाकर मेरी बगल की कुर्सी पर एक पांव ऊंचा रखकर बैठ गया. और लड़के से कहा एक बढ़िया चा बना. और मेरा जायजा लेने लगा तभी एक आदमी किसी वकील साहब का पता पूछने आ गया. लालू ने उसे बतायाकि वकील साहब देवास गये हैं. सुबह बताकर चले गये हैं, तुम मुंशी जी से चाभी ले ले ना. शाम तक वो भी आ जायेंगे. आदमी जाने लगा. लालू ने फिर कहा, 'शाम को नहीं भी आये तो सुबह तक जरूर आ जायेंगे.' आदमी चला गया. लालू मुझसे मुखातिब हुआ. लेकिन तभी कुछ लड़के चंदा मांगने आ गये. जैसे हम निकला करते थे, गणेश उत्सव, बसंत पंचमी या होली के लिए. टुल्लर बनाकर. लेकिन हम पटाते थे, ये रौब झाड़ रहे हैं. हम मांगते थे, ये वसूल कर रहे हैं. खैर. लालू ने उन्हें सब कुछ—जो वे सोचते होंगे कि वे कह सकते हैं—कह लेने दिया. फिर बंडी की जेब से दो का नोट निकालकर बढ़ा दिया. और उनके हुज्जत करने पर मुस्कुराकर हाथ जोड़ दिये. लड़के शोर मचाते हुए चले गये.

''कहां रहता है? रतलाम में?'' लालू ने अब मुझसे पूछा, मुस्कुराते हुए.

''नहीं, रतलाम से तो नीमच चला गया था. फिर वो नौकरी छोड़ दी. आजकल राजस्थान में हूं.''

''अब क्या नौकरी हो गयी? अफ्सर बन गया?''

''हां, छोटा-मोटा. पर मेरे जैसे सत्रह सौ साठ हैं.''

''दो हजार रुपै मिलते होंगे, के?'' कुछ पल बाद बोला.

मैं चौंका कि क्या वाकई इतना समृद्ध लगता हूं? सोचा कैसे कहूं कि दो हजार मेरे बॉस को भी नहीं मिलते.

''ये भी ग्यारमी में आ गया, भूरया.'' काउंटर के लड़के की तरफ इशारा किया. यानी वह इसका लड़का है. उसे मैं पांचवीं-छठी से ज्यादा में क्या समझता? हमारे टाइम में दसवीं का लड़का इससे दुगुना लगता था. मिल एरिया के कई लड़के दसवीं में कुश्तियां लड़ते थे दंगल में. अखाड़े जाते थे. सारा अखाड़ा खोद डालते थे. अनंत चौदस के जुलूस में पट्टा घुमाते थे.

''तो इसको भी लगा देना कहीं. चपरासी-वपरासी में के?''

''वो क्यों चपरासीगिरी करेगा? बाप का मेनरोड पर अच्छा खासा होटल है. उसका मालिक नहीं होगा? बोर्ड पर लिखा देना प्रो. भैराराम...नहीं, क्या बताया? हां, भूराराम ! बस.''

जाहिर है किसी को नौकरी पर लगाने की अपनी असमर्थता मैं उसे खुश करने की कोशिश में छिपा रहा था. लेकिन वह समझ गया. खुश नहीं हुआ.

''होटल में कस नहीं है !'' दो मिनिट चुपचाप अपने नाखून पूरने के बाद उसने बड़ी पीड़ा और हताशा से कहा.

दिखाई भी दे रहा था. तब से मैं अकेला ही था. ज्यूक बॉक्स वाले एयरकूल्ड रेस्टोरेंटों से भरे जेलरोड पर सत्यविजय होटल में कौन आये? यहां न आरामदायक सोफे हैं, न रेफ्रीजिरेटर. दीवारों पर रंगरोगन भी नहीं है. गल्ले पर पोहे-जलेबी भी नहीं है. अलमारी में कुछ नमकीन, कुछ शक्करपारे, कुछ बेसन के लड्डू जरूर हैं...पर कबके बने हुए हैं और कब से रखे हुए हैं... कोई नहीं जानता. कम से कम मैं तो नहीं ही जानता.

चाय आ गयी. मैंने लड़के से हाथ मिलाकर उसका गाल थपथपा दिया. लड़का खुश होकर चला गया.

''तू यहां है मतलब धंधा चल रहा है. अभी तो है.'' मैंने यथासंभव उत्साहवर्धक स्वर में कहा.

''दाल-रोटी तो काढ़ लेते हैं पर अशोक जी बहुत तंग करता है.''

''कौन अशोक जी?''

''अविनास जी का छोटा भाई. वही मकान मालिक है. हर दूसरे-तीसरे अक्सर धमकी ठोक जाता है के खाली करो. जब आता है धमालपट्टी करता है. दिन-रात नसे में धुत्त. एक बार तो काला कांच फोड़ गया. गाली बकता है. छोटे के सिर पे टप्पल मारता है. बेबात. एक बार सारी जलेबी जमीन पर फेंक गया. पोहे की कढ़ाई गाय को खिला दी. कप बसी तोड़ दी. जबसे कुछ रखते ही नहीं हम. नौ-दस महीने से किराया भी नहीं लेता. पैले उसने सोचा के किराया बढ़ाओ तो लालू जगा छोड़ देगा. बीस रुपै महीने से कर्ता-कर्ता एक सौ साठ तक ले आया. फिर बत्ती काट दी. हमने अपना कनेक्शन ले लिया. फिर नल काट दिया. अब क्या करें बताओ? कहां जायें? वकील साहब ने कहा मनीऑर्डर से किराया भेजो साले को. तो मनीऑर्डर से भेजते हैं. फिर भी कुछ ठिकाना नहीं. रोज का पड़पंच हो गया है.''

अब मैं सचमुच हैरान था. और अवाक भी. अविनाश हमारे साथ पढ़ता था. हमारे पुराने मकान मालिक का लड़का. सेठ बाप मरा तो बेटों में बंटवारा हो गया. पर अविनाश का छोटा भाई-जिसे हम अपने साथ खिलाते भी नहीं थे या खिलाते भी थे तो यह कहकर कि 'इसकी कच्ची', वह लालू के साथ ऐसा सलूक करेगा !

''तूने अविनाश से बात की?''

''तू कर मैंने तो कर ली.'' कुछ देर चुप रहकर व्यंग्य से मुंह कड़वा करते हुए उसने कहा.

मैं चुपचाप कप को प्लेट में घुमाता रहा. लेकिन मुझे बहुत अच्छा लगा कि लालू ने मुझे 'तू' कहा, 'सप्पूजी' नहीं कहा.

''अविनाश करता क्या है?'' मैंने पूछा.

''वो इधर नहीं रहते अब. तिलक नगर में रहते हैं. उन्होंने अपना हिस्सा भी बेच दिया. उन्हें इससे कुछ मतलब नहीं है अब. उनका मटके का धंधा चलता है. रोज के चार-पांच सौ रुपै बनते हैं. मोटर है. मैं गया तो फेंटा पिलायी. पर बोले वही एक बात के लालू, अशोक तो ये है, वो है, बदमाश है, कमीना है, मेरे को उससे कोई मतलब नहीं. तू जान तेरा असोक जाने.''

मैं सोच में पड़ गया. यानी आपके पढ़ने-लिखने का फायदा क्या हुआ अगर आप मुसीबत में पड़े दोस्त के कुछ काम नहीं आ सकते ! यानी क्या मैं ऐसी कोई तिकड़म भिड़ा सकता हूं जिससे अविनाश का भाई लालू से उसका पुश्तैनी ज़रियाए माश नहीं छीन सके?

इस बीच फिर कोई ग्राहक आ गया था. वह चाय मांग रहा था. लड़का टाल रहा था और बालसुलभ अकड़ रहा था. ग्राहक बिगड़ने लगा. लालू उठकर बीच-बचाव करने गया.

पता चला कि उसकी पचास रुपये से ज्यादा उधारी हो चुकी है और लड़के का अभिमत है कि अब हमें इसको चाय नहीं पिलानी चाहिए. लालू उससे लिहाज करने को कह रहा है. ''दे दे, आज दे दे. फिर मत देना.'' लड़का बेमन से माना है, पर बड़बड़ा रहा है.

लालू मेरे पास आ गया.

''चलूं यार !'' मैंने कहा.

''ठेरा कहां है? मामाजी के? परदेसीपुरा? के?''

''हां.''

''कित्ते दिन है?''

''अभी तो हूं.''

''रात को आ. रोटी साथ खायेंगे.''

मैं धन्य हो गया. ऐसा प्यारा निमंत्रण बरसों से मुझे कोई नहीं देता.

''देखूंगा. नहीं तो सुबह आऊंगा.''

उसने दिल से मुस्कुराते हुए, अपनी सारी पीड़ा भूलकर मुझसे हाथ मिलाया. दस मिनिट मेरे और मेरे परिवार के बारे में पूछता रहा. पंद्रह मिनिट हो गये. मेरा हाथ अभी उसके हाथ में ही था और अंत में मुझे छोड़ने बाहर तक आया.

''अविनासजी के तरफ जाएगा क्या?'' मैं दस-बारह कदम निकल चुका तो उसने पुकार कर पूछा.

मैंने कुछ पल उलझन में पड़े रहकर कहा, ''देखूंगा.''

घर पहुंचते ही सब पीछे पड़ गये कि मैं कहां गया था और क्यों गया था. जबकि कल ही तय हो गया था कि आज यशवंत में पिक्चर देखनी है और फिर गुड्डू की होनेवाली बहू को देखने हरसिद्धि जाना है ! मैं कैसे बताता? मैं उन्हें कुछ नहीं बता सकता था. मेरा पहले से कुछ तय भी नहीं था कि जेलरोड जाऊंगा और लालू से मिलूंगा. धूल, धुंए और सीमेंट कांक्रीट के शोर भरे जंगल में अपने अतीत में खोये शांत, सुरुचिपूर्ण शहर को ढूंढता...जैसे कोई खंडहर में भटकता है...मैं भटक रहा था...हर जगह बीते समय के बचे-खुचे निशान खोजता...और जिस शहर में मैं कभी अकेला नहीं रहा उसी शहर की बेनियाज सड़कों पर मेरी तनहाई एक अदृश्य पुकार की तरह खींचती हुई मुझे जेलरोड के अपने पुराने मकान ले गयी जहां लालू और उसके होटल के सिवा सब कुछ बदल गया था और जहां लालू से मिलकर

> ## लिखने के बाद
>
> □ नू शुनं
>
> कुछ भी लिखने के बाद में हमेशा उसे दो बार पढ़ता हूं जहां कोई अंश मेरे कानों को अखरता है, वहां कुछ शब्द जोड़ या घटा देता हूं ताकि वह पठनीय बन सके. जब कभी मुझे उचित मुहावरा नहीं मिला तो वहां मैंने प्राचीन साहित्य का हवाला इस उम्मीद से दिया कि कुछ पाठक तो इसे समझेंगे ही. अपने दिमाग से उत्पन्न ऐसी वाक्य-रचना जो सिर्फ मैं—या खुद मैं भी नहीं—समझ सकूं, मैंने कभी कभार इस्तेमाल की. मेरे आलोचकों में से सिर्फ एक ने इस तरफ इशारा किया है, लेकिन उन्होंने मुझे 'रूपवादी' करार दिया. □

मुझे लगा था...ठीक इसीलिए मैं घर से निकला था.

लालू और हम-यानी मैं और मामाजी का लड़का गुड्डू एक ही स्कूल की एक ही कक्षा के अलग-अलग सेक्शनों में पढ़ते थे. लेकिन दोस्ती नहीं थी. हम संभ्रांत घरों के राजा बेटे थे और वो उजड्ड और मवाली. हमारे मामाजी दफ्तर में क्लर्क थे. और लालू के पिता रोड़जी का उसी मकान में सड़क की तरफ 'सत्यविजय होटल' था. जो ग्राहकों से भरा रहता था और कई बार हमने उन्हें रात को लालटेन जलाकर नोट-रेजगी गिनते देखा था और जो लालू को जिन असंख्य कारणों से-और बिना कारण भी-पीटते रहते थे उनमें पहला प्रमुख कारण यह था कि लालू उनका इकलौता बेटा था जिसका बिगड़ जाना उन्हें पड़ता नहीं खाता था और दूसरा प्रमुख कारण यह था कि लालू रोज कांसे का कटोरा भरकर मलाई खाये बिना और आधा सेर रड़ा हुआ दूध पिये बिना सो जाता था. अर्थात वे छोटे आदमी थे.

लालू से हमारी दोस्ती बाद में हुई. पहले लड़ाई हुई. उसका भी मजेदार किस्सा है.

महाराजा शिवाजीराव हाईस्कूल के मैदान पर कई टीमें गुट-टुल्लर एक साथ अपने-अपने भिन्न खेल खेलती रहती थीं. हर शाम. उन दिनों. अब तो कोई नहीं खेलता. कुछ बूढ़े हवाखोरी करते हैं या भैंसे बैठी रहती हैं. बच्चे तो घरों में टी वी देखते हैं. बहरहाल, तो हम कुलीन बच्चे हॉकी खेलते थे और लालू जैसे मवाली गुल्ली-डंडा, चौं-घोड़ी या आसा बड़ावनी.

एक दिन लालू आया और दोनों हाथ दोनों तरफ फैलाकर खड़ा हो गया और बोला, ''हम भी हॉकी खेलेंगे.'' सभी ने उसका विरोध किया. उसका मजाक उड़ाया शायद हमने सबसे ज्यादा. पर जब वह खेल बिगाड़ने पर ही उतर आया तो उस पैलवाननुमा बालक को एक स्टिक पकड़ाकर गोल पर खड़ा कर दिया गया. खेल के कोई पंद्रह मिनिट बाद ठाठ से इधर गोल हो गया क्योंकि लालू सामनेवाली टीम के गोल के पास दुश्मनों से गेंद छीनने की कोशिश करता-करता वहीं रह गया था. उसे डाटकर गोल पर भेजा गया. दस-पंद्रह मिनिट बाद फिर गोल हो गया. क्योंकि इस बार गोल पर लालू नहीं सिर्फ उसकी स्टिक पड़ी थी. लालू कहीं नहीं था. गोल पर खाली खड़े-खड़े कुछ देर बोर होने के बाद वह 'हाकी' के खेल को कोसता हुआ पुनः अपने साथियों के साथ गुल्लीडंडा खेलने चला गया था. बगैर किसी से पूछे-बताये.

चूंकि मैंने गुड्डू ने शायद उसके हॉकी खेलने का सबसे ज्यादा विरोध किया था इसलिए दूसरे दिन जब हम मैदान पर गये और ऐसे ही घूम रहे थे क्योंकि किसी कारण उस दिन खेल नहीं हो रहा था, तो लालू ने पता नहीं कहां से आकर हमें धर दबोचा. बांह मरोड़ी. टंगड़ी मारकर नीचे गिरा दिया और गरेबान पकड़कर ऊपर-नीचे झुलाने लगा. ठीक जैसे चंदामामा में दैत्य करता है. पर हम दो थे. पिटते-पिटते भी, डरते-कांपते भी, हमने दैत्य का

मुकाबला किया और उसे नीचे पटक दिया.. मैं सिर के पीछे की तरफ बैठा उसके दोनों हाथ दबाए था और गुड्डू उसके पेट पर बैठा था. लालू छटपटा रहा था, पर छूट नहीं पाता था. हवा में टांगें फटकारता था और थककर ठंडा पड़ जाता था. पर अब हालत यह थी कि हम उसे छोड़ते कैसे? और छोड़ते नहीं तो कब तक बैठे रहते इस तरह? और छोड़ देते तो यकीनन वह हमारा भुरता बना देता. गुड्डू रोने लगा. मैं भी रो ही देता कि तभी एक आदमी दूर से गुजरता नजर आ गया. झुटपुटा हो चुका था. हम चिल्लाए, "भाईसाब ! भाई साब ! ये हमको मारता है !" और भाईसाब के जरा पास आते ही हम भाग छूटे और सीधे घर आकर ही दम लिया.

पर बाद में हम दोस्त बन गये. वह हमें बीच की छुट्टी में कचौड़ी-ककड़ी खिलाता. हम पढ़ाई में उसकी मदद करते और किसी से भी झगड़ा होने पर उसकी दोस्ती का दम भरकर सामनेवाले को डरा देते.

जैसाकि मैंने कहा रोड़जी लालू को खूब मारते थे, पढ़ने के लिए और ठीक पढ़ने के ही समय होटल का काम नहीं करने के लिए भी. हमारे घर से दिखता था. लालू के हाथ-पांव में खूब ताकत थी, पर बुद्धि कमजोर थी. उसे याद कम रहता था और नींद बहुत आती थी. हम भरसक उसकी पढ़ाई में मदद करने की कोशिश करते पर वह शायद रोड़जी से बदला लेने के लिए ही परीक्षा में कुछ नहीं लिखकर आता और फेल हो जाता और जूनियर होता जाता.

हमें हाकी से ज्यादा अब उसके खेल मजेदार लगते थे. हमारी देखा-देखी औरों को भी. गुल्ली-डंडा, अक्स बड़ायनी, गुलाम लकड़ी. चीं घोड़ी. चीं घोड़ी लोकप्रिय हुआ. धीरे-धीरे सारे राजा बेटे इसे खेलने लगे. एक पार्टी एक-दूसरे की कमर पकड़कर घोड़ी बनती और दूसरी पार्टी के उतने ही सदस्य एक-एक कर दूर से दौड़कर आते और उस घोड़ी पर सवारी करते. सवार गिर जाये तो सवारी करनेवाली टीम हारी और घोड़ी का कोई सदस्य गिर जाये तो यह टीम. कोई न गिरे तो सवार जोर-जोर से हिलेंगे और 'चींघोड़ी-चींघोड़ी' चिल्लायेंगे. या तो घोड़ी चीं बोल दे या गिर जाये. कब तक नहीं गिरेगी?

इस खेल में हम लालू की टीम को कभी नहीं हरा पाये. यदि वह सवार होता तो उसके वजन से हमारी जान निकल जाती—कोई न कोई चीं बोल ही देता, या गिर जाता—हंसी उड़ती. और यदि वह घोड़ी होता तो घंटों सारी टीम का वजन झेलता रहता. फिर अंधेरा और खेल स्थगित.

हम लालू की टीम को कभी नहीं हरा पाये—जब तक कि अविनाश हमारी टीम में नहीं आया. वह संयोगिता गंज स्कूल से रेस्टीकेट होकर हमारे स्कूल में आया था. वह लालू की सवारी करते हुए न सिर्फ जोर-जोर से हिलाता-कूदता बल्कि उसके पेट में अपने नोकदार जूते भी चुभोता. लालू क्या करता? एक बार दुखी होकर उसने अविनाश का गरेबान पकड़ लिया था. दूसरे दिन अविनाश के पिता-हमारे मकान-मालिक—रोड़जी से लड़ने आ गये थे. बड़ी देर गालियां बकते रहे थे. रोड़ जी उनके सामने घिघियाते रहे थे और बेटे की तरफ से माफी मांगते रहे थे और फिर उन्होंने लालू को बुरी तरह ठोक डाला था.

इसके बाद लालू कभी चीं घोड़ी नहीं खेला.

दूसरी सुबह मैं फिर लालू के होटल में बैठा था. बहुत दिनों बाद उसने जलेबी बनवायी थी. या शायद रोज सुबह थोड़ी-बहुत बनती हो और दोपहर तक खत्म हो जाती हो. पता नहीं. कल मैं तीसरे पहर आया था.

खैर. लालू ने मुझे जलेबी खिलायी और दूध पिलाया. खुद सिर्फ आधा कप चाय पी. लौंग-इलायची-जायफल-कालीमिर्च डली चाय. पीतल की कप बसी में और फिर पूछा, "तू गया था अविनासजी के? के?"

मैंने उससे नजरें चुराते हुए कहा, "नहीं."

उसने एकदम बात दूसरी तरफ मोड़ दी और मुझे पुराने दोस्तों के बारे में, अपने परिवार के बारे में, बांसवाड़ा के बारे में, इस शहर में पिछले दिनों हुए चुनाव में घटी घटनाओं के बारे में बताने लगा. फिर मेरी नौकरी-शादी-घर-गृहस्थी [illegible]

अचानक वह फुर्ती से उठकर खड़ा हो गया. दरवाजे से एक मोटा-सा लड़का दो और लड़कों के साथ होटल में घुसा था. अभी-अभी. और उसने काउंटर पर खड़े भूरया को खामखां चांटा जड़ दिया था. जिससे कि वह रोने लगा था और अब वह गल्ले में हाथ डालकर रेजगारी बटोर रहा था.

निकली पड़ती-सी आंखें. फूले गालों और मोटी तोंदवाला जींस-कुर्ता पहने, पान चबाए यह लड़का अशोक ही होगा. मैंने अंदाजा लगाया.

लालू ने उसे हाथ जोड़कर नमस्ते की और कंधे पकड़कर, लगभग अपने अंक में भरते हुए उसे एक कुर्सी में बिठाया. उसके साथ आये छोकरों में से एक कुछ उठाकर बगल में दबाकर फौरन होटल से बाहर निकल गया. दूसरा काउंटर पर रखी थाली से जलेबी उठा-उठाकर खाने लगा और अलमारी के कपाट खोल-खोलकर देखने लगा.

"पर इस साले ने नमस्ते क्यों नहीं की? ये जान्ता नहीं हम कौन है? जान्ता है के नहीं जान्ता? उल्टा लटका दूंगा स्याले को." अशोक चिल्ला रहा था.

लालू उसे चुप कराने की कोशिश कर रहा था.

"तुम खाली कर दो जी. ऐसे टैपे किरायेदार नहीं चाहिए हमें. मैं फिकवा दूंगा. तुम्हारा सारा सामान किसी दिन सड़क पर..."

इसी बीच साथ वाले लड़के ने झक्करपारेवाली अलमारी खोलने के लिए ऊपर रखी चाय की केटली हटायी. जो उसकी उम्मीद के खिलाफ काफी गर्म थी. उसके हाथ से छूट गयी. सारी गरम-गरम चाय उसके कपड़ों पर और नीचे फर्श पर गिर गयी. वह बौखला गया और उसने अलमारी के कसकर एक लात जमायी. जिससे पांव में ही लगी होगी कि उसने गल्ले पर लगी तराजू उखाड़ने की कोशिश की. जो नहीं उखड़ी. जब किसी पर उसका बस नहीं चला तो पास खड़े उसे भय और घृणा से घूरते भूराराम को उसने सिर के बाल पकड़कर झिझोड़ दिया. "तू यहां क्या कर रहा है? हैं? तू यहां क्या कर रहा है?" और उसे धक्का देकर छोड़ दिया जिससे वह पीछे रखी टेबल की किनारे पर जा गिरा और बिलबिलाकर रोने लगा.

अब तक होटल के बाहर तमाशबीन इकट्ठे हो चुके थे. लेकिन कोई बीच में नहीं पड़ रहा था.

लालू अशोक को छोड़कर इसके पास आया और इससे भैया दादा करने लगा.

इसने लालू को एक गंदी गाली बकी.

मैं उठा और उठ कर उस लड़के के पास गया और उसका हाथ पकड़कर उसे घसीटता हुआ होटल के बाहर तक ले गया और बाहर फेंक दिया. वह पलटकर लपका और मुझे खा जाने वाली नजरों से घूरने लगा और उसने जेब से चक्कू निकाल लिया.

लालू मुझे एकदम बांहों में भरकर "सप्पू तू उधर बैठ. सप्पू तू जा. सप्पू तू बीच में मत पड़..." करने लगा. लालू में ज्यादा ताकत थी. वह मुझे धकेलता हुआ एकदम कोने की कुर्सी तक ले आया और मुझे कुर्सी में पटककर चक्कूवाले की तरफ लपका.

इस बीच अशोक खड़ा हो गया. उसने लड़के से चक्कू बंद करके जेब में रख लेने के लिए कहा और बगैर मेरी या लालू की तरफ देखे वह अपने साथी को लेकर चला गया.

क्या मैंने कुछ देर पहले कहा था कि लालू फिर कभी चीं घोड़ी नहीं खेला? गलत कहा था. चीं घोड़ी का खेल अभी भी चल रहा है. लालू अभी भी घोड़ी बना हुआ है. अविनाश उस पर सवारी गांठ रहा है और वह है कि चीं नहीं बोल रहा.

क्या मैं कुछ ऐसा कर सकता हूं कि अविनाश लालू के पेट में अपने नोकदार जूते नहीं चुभा सके? या क्यों नहीं मैं इस खेल के ही औचित्य पर सवाल उठाता? आप क्या कहते हैं? □

● सर्गीपल्ली खान परियोजना,
जि. सुंदरगढ़ उड़ीसा-770072

एक थी हंसमुख दे

मृणाल पांडे

भाषा और शिल्प की दृष्टि से बेहद सजग मृणाल पांडे अपने समय की उन चर्चित कथा-लेखिकाओं में हैं जो कहानी और उपन्यास ही नहीं, नाटक के क्षेत्र में भी सक्रिय हैं. प्रस्तुत है किस्सागोई के अंदाज में लिखी उनकी यह कहानी जो खासतौर पर 'सारिका' के लिए लिखी गयी है...

बड़ा घना जंगल था. दिन को वहां अंधेरा, रात को अंधेरा. बड़े-बड़े पेड़, और जटाओं वाली उनकी शाखें. रात गये पेड़ की खोह में मनहूस घुग्घू बोलता, घुग्घू-घू ! बंदर डरकर खौखिया उठते, ख्वांई ! ख्वांई ! ख्वांई ! चिड़ियां सफेद पुतलियां पलटकर अंडों को पेट के नीचे छिपा लेतीं, और पंख फुलाकर ऐसे बैठ जातीं, जैसे कुछ सुना न हो, देखा न हो ! रात के जंगल का राजा था शेर ! और दिन का राजा था बनराक्षस. जब्बर की परजागिरी खतरनाक. मारे भी, और रोने भी न दे. सबसे भली चुप.

जंगल के बीचों-बीच बनराक्षस का महल था. ऊंचा सतरखंडा महल. कोटे-परकोटे वाला. हाथी भर ऊंचा उसका दरवाजा लोहे के पत्तरों से मढ़ा हुआ था. जंगल के बाहर उसका अता-पता न चलता. पर जंगल के भीतर घुसो तो वहीं वह दीखता. अंधेरे में जगर-मगर करतीं उसकी खिड़कियां.

शाम के झुटपुटे में महल के दरवाजे पर कुंडी खड़की-खटट खट्ट !

"कौन" ? सात आवाजें आयीं. सात उजली खिड़कियां खुल गयीं.

"मैं."

"मैं कौन" ? सात सवाल आये.

"मैं राजकुमारी हंसमुख दे ! पाटण की."

"ठहरो !" चरमराता चोर दरवाजा धीरे-धीरे खुल गया. सात जोड़ी आंखों ने देखी आग की जोत जैसी खड़ी दपदपाती हंसमुख दे ! राजकुमारी हंसमुख दे ! पाटण की.

राजकुमारी ने क्या देखा ? देखीं सात जोड़ी आंखें, सात अपरूप चेहरों पर जड़ी. एक जैसी पोशाकें, एक जैसा सिंगार-पिटार. उसके पीछे सात परी-चेहरे. हंसें तो फूल झरें. रोयें तो मोती बरसें. पहले फूल झरे. फिर मोती बरस पड़े.

"तुम सातों कौन हो? क्यों इस तरह पहले हंसी ? और फिर रो पड़ीं?" पाटण की राजकुमारी ने पूछा.

नाखून से के कोहनी तक भरकम गहनों से लदे सात बाजुओं ने भीतर आने का इशारा किया. हंसमुख दे भीतर घुस आयी. सात जोड़ी हाथों ने सात सांकलें चढ़ायीं. सात ताले लगाये. सात सिटकिनियां सटकायीं. तब चारों ओर से घेरकर वे सातों परियां उसे भीतर ले चलीं—कमरे के भीतर कमरा. उसके भीतर कमरा. उसके भी भीतर कमरा. महल के भीतर के भी भीतर सात खिड़कियों वाला एक बड़ा-सा लाल कमरा था. जहां पहुंचकर वे रुक गयीं. कमरे के बीचों बीच बिछा था एक भारी छपरखट. जिसके पैताने पड़ी सात चौकियां. सातों परियां जा बैठीं चौकियों पर. पाटण की राजकुमारी खड़ी रही.

"तुम लोगों ने मेरी बात का जवाब नहीं दिया. तुम लोग कौन हो? यह किसका महल है? यहां और कोई नहीं है क्या? यह पलंग किस का है? दास-दासी कहां हैं? तुम पहले क्यों हंसीं? फिर क्यों रोयीं?" हंसमुख दे ने एक सांस में पूछ डाला.

इस पर सातों ने एक दूसरी को देखा. एक बार फिर फूल झरे. फिर मोती बरसे.

"हम सातों बहनें परियां हैं."

"यह महल बन राक्षस का है."

"खलक भी उसका. मुलुक भी उसका. हुकुम भी उसी का."

"वह दिन भर बाहर रहता है. रात को पलटता है."

"यह पलंग भी उसी का है."

"यहां की दास-दासी. प्रजा सब हमीं हैं."

"हम पहले हंसीं. क्योंकि कभी हम भी तुम-सी ही थीं."

"हम बाद को रोयीं. यह सोचकर. कि अब तू भी हमारी ही जैसी हो जायेगी...अब हमें तू बता. कि तू कौन है?" वे सब एक साथ बोलीं.

हंसमुख दे ने बताया, कि वह थी पाटण के नरेश की राजकुमारी. उसके बाप के बाल-ब्रह्मचारी गुरू थे बड़े दुर्वासा. औरतों की परछाईं भर पड़ने पर गंगास्नान करने वाले. एक बार मुंहजली हंसमुख ने हंसते-हंसते पूछ ही तो दिया. 'गुरूजी. आप अपनी मां के पेट से निकल कर भी क्या गंगास्नान करने ही भागे थे? दूध क्या आप बैल का पीते हैं? धरती भी तो स्त्री जाति है. अब आप उसके सीने पर उपजा अन्न कैसे ग्रहण करते हैं? राजगुरू इस वामा तर्क से आगबबूला हो गए. कमंडल दंड उठाकर बोले. "इस महल में या तो मेरा ही निवास होगा. या इस वाचाल कन्या का !"

वाह रे राजा ! गुरू को मनाने को राजा ने बेटी को ही महल से निकाल दिया. कि गुरू तो ज्ञान की संसारसागर से तरने की राह बताये. बेटी क्या? ऐसी खेती. कि सींचो तुम. और काटें पराये !" जा तू बाहर !" मां ने भी रोते रोते कहा. "मैं कहती न थी. कि हंसना बंद कर अभागी ! जहां सौरी में इस कुलबोरनी को न चटाया नमक !" सो द्वार से बिछुड़ी. बाबुल के खूंटे से छूटी हंसमुख इस तरह इस अंधेरे जंगल में आन पड़ी. जहां चारों तरफ खौफनाक जानवर मंडराते थे. सोच रही थी कि क्या करें किधर जायें? अभी खिड़कियों का उजाला देखा और इस ठौर चली आयी. पर अगर यहां रहने का मतलब है उन जैसी हो जाना. और उन जैसी होने का मतलब है इस तरह रोना. तो ना जीना. इससे तो जंगल भला. रोने को बाबुल की ड्योढ़ी छोटी थी क्या? वह तो हंसेगी. और खूब हंसेगी. आंसू उसके ठेंगे पर ! हंसमुख दे-पलटकर बाहर को चल दी. तो सात हाथों ने छेंक लिया.

"अब कहां चलीं?"

"बाहर." हंसमुख हंस दी.

"पागल हुई हो? अकेली औरत जात हो ! बाहर इस समय रात का राजा फिर रहा है. उससे बचीं. तो भेड़िये हैं. उनसे बचीं तो भालू हैं. उनसे भी जा बचीं. तो सांप-अजगर तो हैं ही. हमारी मानो. एक चौकी पैताने तुम भी डलवा लो. और स्वामी की सेवा में जुट जाओ. जहां सात. वहां आठ ! हम आठों हिलमिल कर रहेंगी. झूला झूलेंगी. मेंहदी रचायेंगी. दिन में सात बार मांग-पट्टी बिठायेंगी. और रात को स्वामी के चरणों पर बलि-बलि जाएंगी. यह सारे रेशम-सोना. माणिक मोती. छपरखट. इजदान छोड़ कर बाहर जंगल में भटकेगी क्या? अरे हड्डी भी नहीं छोड़ेंगे तेरी. वहां के जानवरे. हंसने का क्या? दिन भर महल का स्वामी बाहर रहता है. तब कर लीजो खी-खी जितनी चाहो !

हंसमुख दे ठमक गयी. वह भटकी सही. पर थी तो महलों की राजकुमारी. सोने के पलने और रेशम की डोरी वाली. नाजों पली. अरमानों ढली. बाहर का जंगल बहुत घना. बहुत बड़ा था. जिस पर गरजते फिरते वहां शेर. चीते. भालू. भेड़िये. अजगर. सांप. और भी जाने क्या क्या? क्या करे? रुक ही जाये क्या? सो वह रुक गयी. जाने न जाने के बीच. देखी जाएगी. उंह!

उसका रुकना था. कि सातों परियां बात की बात में उसके लिये रेशमी जोड़ा ले आयीं. इत्रदान ले आयीं. और ले आयीं थाल भर मोती. उसकी मांग भरने को. संदल मल-मल कर उन्होंने हंसमुख दे के रूप को निखारा—रूप को संवारा. सज कर तैयार हुई हंसमुख चेहरे की वह राजकुमारी. तो नूर ऐसा. कि परियां भी गश खा-खा जायें.

फिर बड़ी परी ने हंसमुख दे को सीख देना शुरू किया. "तेरा नेम स्वामी के साथ. तेरा धरम स्वामी के हाथ. जो वो खाने को दे. उसे खा. जो वो पहनने को दे. उसे पहन. जो खेल वह खिलाये उसे खेल! सर झुकाए-झुकाए. देख. ऐसे!"

"—खेल ? कैसा खेल?" हंसमुख चकरायी.

"—पांसे का खेल जी. पांसे का !" मंझली परी बोली." हड्डी के सात पांसे फेंकता है. स्वामी. चित भी उसकी होती है. पट्ट भी उसी की. और अंटा-बिसात तो उसके हैं ही हैं. वह कहे तू हारी. तो कह. जी हां मैं हारी. वह कहे तू जीती तो कह जी हां जीती. समझी? सिर झुकाए झुकाए. देख ऐसे ऐसे !"

अरे वाह ! हंसमुख दे बोली. "ऐसा भी होता है क्या ?" खेल की यह पक्की. उसूल-कानून वह जाने. उसे चरका देना मुश्किल !

"कोई उसूल कानून लागू नहीं होता है. स्वामी-दासी के खेल में." वे सब एक सुर में बोलीं. हंसमुख सोच में पड़ गयी. वह सब तो पुरानी जानकार थीं ना. यहां खेलीं-खायीं. वह ठहरी नयी-नवेलरी. हंसमुख को पुराने खूंटे की याद आयी. पहली बार. जब उसने अपनी मां से कहा था. कि अगर उसकी बात गलत है. तो गुरूजी बतायें-बापू बतायें. कि क्यों? तो मां ने भी यही कहा था-गुरू पर उसूल कानून लागू नहीं होते. गुरू पर नहीं. स्वामी पर नहीं. पिता पर नहीं. तब उसूल कानून किस के लिए?

सांझ और घिरी. परियों ने दिया-बाती की. लोबान सुलगाया. छपरखट संवारा. और फिर हाथ बांधे ड्योढ़ी पर जा बैठीं. सांझ का पहला तारा उगा. फिर दूसरा. फिर धीमे-धीमे आसमान तारों से भर गया. काली थाल में हीरे ही हीरे. संझा माता तारनी. सब दुःख निवारनी. तार माता तारनी ! प्रार्थना खतम कर के खिड़की से बाहर झांकती बड़ी परी ने इशारा किया-स्वामी आ गये ! "तू छिप जा अभी-जाने कैसे मन से आयें आज? औरत के लिए स्वामी की अगाड़ी. घोड़े की पिछाड़ी से बचना ही अक्लमंदी." परियों ने हंसमुख दे को रोटी के पिटारे में छुपा दिया.

बनराक्षस आया. ऊंचा-पूरा गठीला-रोयेदार. बादल-सा गरजता. मेहा-सा बरसता. बिजली-सा चमकता. "ये नयी नकोर मानुस गंध कैसी? कौन आया यहां?"

चोवा-चंदन-अगर-कुमकुम से उसे उबटन-करती सातों परियां हंस पड़ीं. "गंध किसकी होगी? हमीं तो हैं यहां. और आयेगा-जायेगा कौन? तुम्हीं ने तो हममें से पहली की निगरानी पर दूसरी. दूसरी पर तीसरी. तीसरी पर चौथी. चौथी पर पांचवीं. पांचवीं पर छठी. और छठी पर सातवीं को ला बिठाया है. हम सबका छींका-खांसा तक तो तुम्हें एक दूसरी की चुगलखोरी से पता लग जाता है. फिर बाहरिया कौन आयेगा?" राक्षस को पूरा एतबार तो न हुआ. पर जब सभी ने एक ही-सी कही. तो माने बिना चारा भी क्या था? तिरिया जात जानों पारे की गोली. लाख निगरानी रखो पर पूरी परतीत हो सके. ऐसा नहीं.

तो राक्षस ने रोज की तरह पहली की तारीफ कर दूसरी को कुढ़ाया. दूसरी को छल्ला पहनाकर तीसरी को कलपाया. तीसरे के हाथों पांसे फिंकवाकर चौथी को कोपभवन जा बिठाया. पांचवीं-छठी-सातवीं को खूब दौड़ाया-कुदाया. खिजाया. और जब पक्का यकीन हो गया कि उनमें से सब पर आपसी कुट्टी और पस्ती तारी हो गयी. तब जाकर वह अपने खास शीशमहल में घुसा. तिरियाजात का क्या भरोसा? सातों-सात कहीं सिर जोड़कर बैठ जायें. तो जाने क्या गुल खिलायें? सो उनमें फूट के बीज बो और उन्हें हंसा-हंसाकर रुला और रुला-रुलाकर हंसा चुकने के बाद राक्षस जा घुसा अपने विराट शीश महल में यहां परियों का घुसना मना था. राक्षस खड़ा हो गया अपनी छवि को छत पर लगे आईने में सौ गुना. हजार गुना. गिनते हुए. उसने दायें देखा-हजार राक्षस दायें देखने लगे. बायें देखा. हजार राक्षस बाएं घूम गया. वह सामने हुआ फिर उसने शीशों से पूछा. "कहो इस पूरी सल्तनत में सबसे बलशाली. सबका स्वामी-सबका दाता कौन?" हजारों राक्षस बोल उठे. "तू ! तू ! तू !"

राक्षस ने मूछें उमेंठीं. कंधे सतर किए. पेट भींचा. और खरामा-खरामा आकर छपरखट पर जा लेटा. परियां पंखा झलने -हाथ पैर मलने में जुट गयीं. जल्द ही उसकी नाक बजने लगी.

इधर राक्षस का सोना था. कि परियां तुर्त-फुर्त भागीं. और पिटारी से हंसमुख दे को आजाद किया. बोलीं. "अब. बोल. मंजूर है न. हमारे स्वामी की सेवकाई?"

"नहीं-नहीं-नहीं ! सौ बार नहीं." बोली पाटण की उज्बर राजकुमारी हंसमुख दे !

परियों का दम खुश्क ! बोली श्श...सुन लिया न स्वामी ने. तो प्रलय आयेगा. प्रलय !

"आये. मेरी बला से !" हंसमुख दे जोर से हंस पड़ी. "बच्चों से भी

● मृणाल पांडे

गया गुजरा तुम्हारा अपार शक्तिमान स्वामी ! आईनों में अपने को देख कर मूंछ उमेठता है. दुम दुरें करता है. परछाईं देखकर एक को सौ. सौ को हजार गुनता है वह. खेलता है तुमसे. पर कहता जाता है मैं-मैं-मैं ! स्वामी है या बकरा ?"

परियां मुस्कान दाबकर बोलीं. "री छोकरी तेरे पर तो अनहोनी चढ़ी है. इतना हंसना तीमियों के लिए ठीक नहीं. जितना हंसेगी. उतना रोयेगी धार-धार. सुन. मान जा. अभी भी. हम कहती हैं स्वामी की सेवकाई पकड़ ले तो तर जाएगी. वर्ना वह उठ कर तुझे ऐसे खींसें निपोरे पाएगा. तो उठ कर एकबारगी से..." बड़ी परी कुछ कहती-कहती चुप हो गयी.

"एकबारगी से क्या करेगा. बोलो?" हंसमुख दे जिद पर उतारू !

"करेगा क्या? सातवें आसमान में तुझे बंद कर देगा समझीं ! और सिर में ठोंक देगा सोने की कील !"

"वह खूब रही. या तो पैरों की जूती बनो. या फिर सर में ठुकवाओ सोने की कील !" हंसमुख दे खूब हंसने लगी. परियां और भी सकपका गयीं. यह अलबेली बला सिर पड़ी. सीधे-सीधे खेल में शामिल हो जाती तो उनका भी बोझ कटता. दिन में पान खाकर जमुहाती हुई वे उसके लिए भी एक दूसरी से लगीबुझी कहतीं. पर यह जाने किस मेल की तिरिया है ! हंसती जाती है. हंसती जाती है ! रोएगी जरूर एक दिन. देखना.

"क्या है? यह कैसा शोर शराबा है?" परियों को काटो तो खून नहीं. सामने स्वामी आंखें मलता खड़ा था.

"यह लड़की कौन है?" वह फिर गरजा.

"मैं हंसमुख दे हूं पाटण की." छोकरी हंस पड़ी.

राक्षस ने ऊपर से नीचे देखा-दायें से बांये देखा. एड़ी से चोटी तक परखा.

"यहां कैसे आयी?" वह गरजा.

"जैसे तू आया. दरवाजे से. और कैसे? और वैसे ही चली भी जाऊंगी." हंसमुख फिर हंस पड़ी. परियों को काटो तो खून नहीं.

राक्षस की आंखों में लाल डोरे खिंच गए. "तुझे मालूम है कि इस ड्योढ़ी से तुम लोग सिर्फ भीतर आती हो. जीते जी तुम बाहर नहीं जा सकतीं. क्यों? इसे बताये नहीं ये उसूल-कानून?" वह परियों की ओर मुखातिब हुआ.

"जी बताए थे." बड़ी परी घिघियायी. शेष परियां ही क्यों पीछे रहतीं?

"यह भी बताया था कि मोतियों से मांग भरा ले और सदा सुहागन बनी रह."

"खेल के नियम उसूल भी बताये थे जी."

"पर यह जाने किस मेल की जनानी है. मानती ही नहीं?"

"कहती है. क्या ऐसा भी होता है."

"सोचती है. इसका हुकुम चलेगा हम पर..."

"कहती है. कि यह भी क्या. कि या तो पैर की जूती बनो या सर में कील ठुकवा लो?"

"तो लाओ कील." राक्षस दहाड़ा. भीतर ही भीतर उसका जिगरा

कहानी बनाम कविता

□ रवींद्र कालिया

विश्व कथा के साथ रखकर हिंदी की कहानी का मूल्यांकन कदाचित वे लोग अधिक कुशलता से कर सकते हैं, जो हिंदी कहानी को विश्व-कथा से असंपृक्त करके देखते हैं. मेरे निकट हिंदी कहानी विश्व-कथा का एक अविभाज्य अंग है. कहानी के विकास के लिए जिस उर्वरा भूमि की आवश्यकता होती है, वह भारत में उपलब्ध है. उपन्यास साहित्य में अग्रणी बरतानिया, कहानी में शायद इसीलिए पिछड़ गया कि वहां की रूढ़ियों और अनुशासन ने कहानी को भी बांधना चाहा था. भारत में स्थिति अधिक अनुकूल है और फलस्वरूप साहित्य की अपेक्षाकृत नयी विधाओं को बल भी मिला है. जिन जटिल संवेदनाओं और द्वंद्वों को संप्रेषण करने में कविता कभी-कभी असमर्थ हो जाती है, कहानी में वह सहज ही रूपायित हो उठे. □

कुलबुला रहा था. इस हंसती मुस्कुराती नई-नवेली को खेल में पछा-पछा कर लस्त कर देने को. पर यह मरजाद का सवाल था. मत चूके चौहान ! पेट की नाभि से राक्षस ने गुस्से की लहर निकाली तो आंखों से लहू चूने लगा, "इसे सजा देनी होगी. कड़ी से कड़ी सजा."

स्वामी का इतना कहना था, कि पांच परियों ने घेर घिरा कर हंसमुख दे को पट पकड़ लिया. तिरियाजात होकर स्वामी से बहस ? हिम्मत तो देखो ! दो परियां तुरत ले आयीं कील-हथौड़ा और पिंजड़ा.

राक्षस ने उठाया हथौड़ा और हंसमुख के कपाल के बीचों बीच सोने की कील ठोंक दी. ठक ! ठक !

कील का ठुकना था, कि हंसमुख दे बन गई काली कोयल.

"अब करेगा तुझे बंद तो भूल जायेगी, हंसना चहकना" राक्षस दहाड़ा. नन्ही हंसमुख पकड़कर उसने सोने के पिंजड़े में ला धरा और उठा कर भीतर ले गया. अपने शीश महल के बीचों बीच. "ले, अब हजारों शीशों में अपनी हालत को देख और सिर धुन अपना !"

आईनों के बीचोंबीच पिंजड़े को टांगकर राक्षस जाने को ही था, कि कोयल की हंसी से कमरा गूंज उठा !

"तू क्या धनी, मैं धनी ! ही ही ही !" कोयल एक पैर से सोने के पिंजड़े के भीतर बने झूले पर झुलने लगी, "तू क्या धनी, मैं धनी !"

"चाकू लाओ !" राक्षस क्रोध से दहाड़ा. सहमी परियों ने दरवाजे से चाकू भीतर उछाल दिया. अपने मोटे रोयेंदार हाथों से राक्षस ने कोयल का गला रेत डाला.. आश्चर्य ! कटा सर भी हंसता गया, "मेरी कटटी कुट्टी भई, मेरी कट्टी-कुट्टी भई !"

उधर परियां शीशमहल के दरवाजे से झांक रही थीं-इधर कोयल का मुंड हंसे जाये ! आईनों में एक मुंड के हजार मुंड दीखे, एक आवाज की हजार प्रतिध्वनियां. बनराक्षस को लगा यह इज्जत का सवाल बन गया था. देर करने से बाकी परियां भी कानाफूसी शुरू कर सकती थीं. उनके मन में भी मैल आ सकता था. कहीं उन्होंने भी हंसना शुरू कर दिया तो?

कोयल की हंसी को दबाता राक्षस और जोर से दहाड़ा, "चूल्हा सुलगाओ !"

कांपते हाथों ने चांदी की सिगड़ी और सोने का पतीला तुरत भीतर खिसका दिए. दहकती आग पर पतीला रख, राक्षस ने हंसमुख के रुंड-मुंड दोनों पतीले में झोंक दिए ! जलती भुनती रह अब, बेअदब ! हंसती है, स्वामी पर?

पर यह क्या? खदकते पतीले से फिर आवाज आने लगी, "मेरी पाक्की-पुक्की भई, कि मेरी पाक्की-पुक्की भई !" राक्षस को लगा, जैसे परियों के चेहरों पर भी हंसी जैसी झलकी. मिनट भर को 'आह !' एक दहाड़ मारकर राक्षस ने एक ही निवाले में वे गर्मागर्म बोटियां निगल डालीं ! ले यही होना था तेरा ! अब गल मेरे पेट की अंधेरी तंदूर के बीच ! एक डकार लेकर राक्षस अपने छपरखट पर आन लेटा. किले में विद्रोह पनपने से पहले ही मसल देना ठीक ! इन लोगों का क्या भरोसा? दिन भर वह बाहर रहता है, पीठ पीछे गुपचुप हंसी-कानाफूसी होने लगी, तो बस-सात जोड़ी नर्म हाथों की गुदगुदी मालिश तले राक्षस को झूम आने लगी.

ठीक आधी रात गए, नींद में उसने सुनी एक हल्की सी आवाज, "मेरी काली कुठरिया भली, मेरी काली कुठरिया भली !" चौंककर वह जागा. आवाज उसके अपने पेट से आ रही थी. धूर्त चिड़िया ! राक्षस ने दांत पीस लिए. इसे फिर से टुकड़े-टुकड़े कर के आग में जलाना ही होगा, वर्ना चैन नहीं ! पेट का तेजाब भी कमबख्त के हंसते हाड़ न गला पाया !

गर्म पानी और नमक घोल लाओ," राक्षस गरजा, "और यह लो मेरी कटारें. गर्म पानी पीकर मैं अब उल्टी करूंगा-ज्यों ही वह बदजात चिड़िया बाहर निकले, उसके टुकड़े-टुकड़े कर देना-देखना धड़ से मुंड तुरत जुदा हो जाय. और फिर धड़ को उत्तर में और मुंड को दक्षिण में ले जा के जला दो, और राख हवा में फैला दो !

"हुकुम !" परियां बोलीं, और कटारें लेकर अगल बगल तैनात हो गईं. एक सांस में लोटा भर गर्म पानी पीकर राक्षस बोला, "सावधान" और मुंह फाड़कर उसने खाया-पीया सब उगल दिया-हिरन, चीता, बकरी, फल-फूल, मेवा सब ! सबसे अंत में निकली चिड़िया ! ज्यों ही वह निकली, कटारें चलीं खटाखट ! छपाछप !

पर यह क्या ? चिड़िया तो उड़ गई फुर्र, और उल्टे राक्षस की नाक ही कट गई !

परियों ने दूर जंगल में हल्की होती आवाज सुनी, "नाककटैया राजा ! नाक-कटैया राजा !"

पहाड़-सा राक्षस पछाड़ खाकर हा-हा करता गिर पड़ा. चिड़िया हो गई फुर्र !

बनराक्षस पड़ा जमीन पर, और चिड़िया हो गई फुर्र !
तो चिड़िया हो गई फुर्र, और रहस्य की बात खुली, कि
बनराक्षस की जो ताकत थी न, वह उसकी नाक में बसती थी.
नाक गई, ताकत गई, चिड़िया हो गई फुर्र.
ताकत गई, सत्ता गई, सत्ता गई, महल गया.
महल नहीं, जंगल नहीं, कुछ नहीं, और चिड़िया हो गई फुर्र !

तो चिड़िया हो गई फुर्र, और सातों परियों के कटे पंख फिर से उग आये. वे चल दीं अपने अपने देस, महल-परी-जंगल, सब खत्म. नन्हें से सर में कील ठुकवाये वह चिड़िया कहां गई, कोई नहीं जानता.

सिर्फ कभी रातों को हंसी की आवाज आती है, तो स्याने समझदार लोग नाक ढंक लेते हैं. स्यानियां जवान छोकरियों को भीतर कुठरिया में बीनने-फटकने को बिठा देती हैं, और दहलीज पर जोर-जोर से भजन गाने लगती हैं, 'भाने चाकर राखोजी !' □

● द्वारा : धामा, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

चलते-चलते

नयी कहानी में आधुनिक आदमी की जो विच्छिन्न मनोदशा है, उसको अगर आप उसके सारे संदर्भों से काटकर—उस मनोदशा को मात्र अधर में लटकाकर—चित्रित करेंगे तो मनोदशा के नाम पर (कहानी में) एक धुंध समा जायेगी. कहानी में अगर सिर्फ भीतरी धुंध हो और सिर्फ वही रहे और इसी की इतनी प्रधानता हो कि वस्तु-सत्यों के संवेदनात्मक चित्रों का प्रायः लोप हो जाये तो आप वही गलती करेंगे, जो नयी कविता ने की... मैं यह चाहता हूं कि साहित्य में मानव की पूर्ण मूर्ति (वह फिर जैसी भी हो) स्थापित की जाये.

—गजानन माधव मुक्तिबोध

पिल्ला

ब्रजेश्वर मदान

मामूली-सी नजर आनेवाली किसी वस्तु या व्यवहार के माध्यम से किसी भी व्यक्ति या समुदाय की मानसिक, बौद्धिक शल्यक्रिया कर गुजरने में ब्रजेश्वर मदान को महारत हासिल है-प्रस्तुत है उनकी एक ताजा कहानी----

जूते उसने दो महीने पहले खरीदे थे. खरीदने से पहले उसने अच्छी तरह देख लिया था कि उन्हें पहनकर चलने से आवाज आती है या नहीं.

कारण यह था कि पिछले दिनों उसकी गली में एक चोर पकड़ा गया था. गलीवाले उसे थाने ले गये थे. पुलिस वालों ने उसे देखते ही कह दिया था, यह तो पक्का चोर है, ऐसे जूते पहन रखे हैं, जिनको पहनकर चलने से आवाज न आये.

गलीवालों के साथ थाने से लौटते ही उसने सबसे पहले यह देखा था कि उसके जूतों की आवाज आती है या नहीं. उसके बाद वह पहली तनख्वाह पर ही ऐसे जूते खरीद लाया था कि उसके जूतों की आवाज सुनकर ही बच्चे "पापा आ गये", कहते हुए गली में आ जाते थे. उसे हैरानी हुई थी कि वह पहले चोर की तरह ही अपने घर में घुसता रहा है. पत्नी और बच्चों को पता ही नहीं चलता था कि वह घर में कब घुसा. अक्सर पत्नी को रसोई में आवाज देकर अपने आने की सूचना देनी पड़ती.

लेकिन जब उसने यह जूते खरीदे थे, तब वह अनुमान नहीं कर पाया था कि दो महीनों में उन पर लगी मखमल का रंग उड़ जायेगा. यही नहीं जगह-जगह से मखमल के रोएं भी इस तरह झड़ गये कि उनके नीचे से झांकता हुआ चमड़ा किसी खाज खाये कुत्ते की खाल-सा लगने लगा था. सुबह दफ्तर जाते समय उन्हें पहनते हुए उसे जुगुप्सा का अहसास होता. जूते पहनने के बाद वह पैंट को पेट से खींचकर नीचे कर लेता, ताकि जूते के वह हिस्से जो खाज खाये कुत्ते की खाल जैसे लगते हैं, पैंट के पहुंचों के नीचे छिपे रहें. पैंट पेट से नीचे खींचने से ढीली हो जाती और उसे सही जगह रखने के लिए बार-बार उसे ऊपर भी करना पड़ता था और कई बार वह इतनी ऊपर हो जाती कि जूतों के वह हिस्से नजर आने लगते.

हालत यह थी कि यह सब करते हुए वह अपने आप को किसी फिल्म का जोकर-सा महसूस करने लगता. जूतों को पैंट के पहुंचों के अंदर करने की कोशिश करते हुए कई बार तो उसे यह महसूस होता कि यह देखकर कोई यह समझने की भूल कर सकता है कि कोई पिल्ला उसकी पैंट की मोहरी में मुंह डालने की कोशिश कर रहा है, बल्कि अब तो उसे जूतों का स्पर्श सचमुच उस कुत्ते के पिल्ले जैसा लगने लगा था, जिसे उसका बच्चा उठा लाया था. वह उसके पैर पर चढ़ते-चढ़ते करीब उसकी पैंट के पहुंचे में घुस जाता था.

जब उसने जूते खरीदे थे, उन्हीं दिनों गली में एक कुतिया ने बच्चे दिये थे. उसके बच्चे बार-बार उसके पिल्लों को उठाकर ले आते थे. कुतिया बार-बार अपने पिल्लों को उठाकर ले जाती थी. उसे याद आया शुरू-शुरू में जूते उसके पांव में ऐसे काटते थे जैसे पिल्ले ने उसके पैर पर चढ़ते-चढ़ते नाखून मार दिये हों. तब उसे यह डर भी लगने लगा था कि कहीं उसकी रोयेंदार जूती को भी कुतिया अपना पिल्ला समझकर उठा न ले जाये. हालांकि यह सोचकर उसे तसल्ली होती कि जानवर पहचानने में भूल नहीं करता.

अब जूते पहनकर चलते हुए उसे बराबर उस पिल्ले का ख्याल आता. वह पिल्ला अब भी गली में घूमता-फिरता है. बच्चों की तरह वह भी उसके जूतों की आवाज पहचानता है. उसकी चमड़ी में भी उसके जूतों की तरह धूल जमी होती है, और जूते की तरह खाज से उसके बाल भी जगह-जगह से उड़ गये हैं. एक बार तो उसे खुजाते देखकर उसे लगा था कि पिल्ले की तरह उसके जूतों की छोटी-छोटी टांगें निकल आयी हैं और अगर वह उन्हें कभी पिल्ला समझकर डांटने की कोशिश करेगा तो जूते उन टांगों से भाग जायेंगे.

यह जूते पहनने को उसका दिल नहीं करता. पत्नी भी कहती है दो महीनों में ही जूतों की हालत खाज खाये कुत्ते जैसी हो गयी. लेकिन नये जूते इतनी जल्दी तो नहीं खरीदे जा सकते. यों दफ्तर से लौटते वक्त उसने कई बार जूतों की दुकान के शो-केस में जूतों के रेट पढ़े हैं, और मन ही मन अपनी हालत पर हंसकर रह गया है. एक मुहावरा होता है 'पैरों को बिल्लियां लगना', लेकिन उसे लगता है कि उसके पैरों को कुत्ते लगे हैं, कुत्ते नहीं, कुत्ते के पिल्ले.

लेकिन आज तो जूतों की हालत और खराब हो गयी. कपड़े बदलने के बाद उसने जूतों में पैर डाले और उनमें से धूल निकालने के लिए उसने जोर-जोर से पैरों को फर्श में पटका. धूल उड़कर उसकी पैंट की मोरियों पर पड़ी. थोड़ा झुककर उसने पैंट की मोरियों को हाथों से झाड़ा और फिर पैंट नीची करके जूतों को पहुंचों में छिपाने की कोशिश करते हुए घर से बाहर निकल आया. लेकिन थोड़ी दूर जाकर ही उसने देखा कि जूते का तला आगे से उखड़ गया है और जूता सामने से बिना दांतों के पोपले मुंह की तरह खुल गया है. उसे अपने आप पर गुस्सा आया कि उसे जूतों से धूल निकालने के लिए घोड़े की तरह दुलत्ती झाड़ने की क्या जरूरत थी. फिर यह सोचकर आगे बढ़ने लगा कि चलो नुक्कड़ पर बैठे मोची से इसके मुंह में दांत लगवाते हैं, लेकिन मार्केट तक पहुंचते-पहुंचते ही तला आधा उखड़ गया. वह आगे कदम बढ़ाता तो वह पीछे मुड़कर दोहरा हो जाता. नुक्कड़ पर मोची बैठा नहीं था. दफ्तर पहुंचना भी जरूरी था. थोड़ी देर में ही उसने उखड़े हुए तले के साथ चलने की तरकीब निकाल ली और अपनी बुद्धि पर खुश हो गया. वह चलते वक्त पांव इतना कम ऊपर उठाता कि तला दोहरा होकर पीछे की तरफ न जाये. पिल्ले

के मुंह की तरह जरा-सा खुले और पिन्च से बंद हो जाये. लेकिन थोड़ी दूर जाकर ही उसे खयाल आया कि बस का पायदान तो बहुत ऊंचा होता है. बस पर चढ़ने के लिए उसे पैर बहुत ऊंचे उठाना पड़ेगा. उसे लगा कि बस पर चढ़ना मुश्किल हो जायेगा. बसें ठीक तरह से रुकती भी नहीं. भागते-भागते चढ़ना पड़ता है. एक बार तो भागते-भागते उसकी चप्पल ही गिर गयी थी और वह अगले स्टॉप पर उतरकर अपनी चप्पल उठाने वापस आया था. "बस में चढ़ भी गया तो..." उसने सोचा दफ्तर की सीढ़ियां तो बहुत ऊंची हैं. आजकल ऊंची सीढ़ियां बनाने की इजाजत नहीं है. लेकिन जिस दफ्तर में वह काम करता है, उसकी इमारत सामंती जमाने की मानी हुई है.-अक्सर वह सीढ़ियां चढ़ते हुए अपने पैरों से सामंतवाद को रौंदने का मजा लेता था. यह सोचकर उसके माथे पर पसीना छलक आया कि क्या वह जूते उतारकर नंगे पांव सीढ़ियां चढ़ेगा. एक चोर की तरह, बिना आवाज के. उसे हैरानी हुई कि कैसे आदमी जूतों के कारण भी अपने आपको चोर की मानसिकता में महसूस करने लगता है. उसे फिर उस चोर का ख्याल आया, जिसके जूते देखकर पुलिसवालों ने कहा था—"पक्का चोर है. ऐसे जूते पहन रखे हैं जिनको पहनकर चलने से आवाज नहीं होती."

उसे लगा वह चोर की मानसिकता में जी रहा है. अपने जूतों को इस तरह पैंट के पहुंचों में

● ब्रजेश्वर मदान

छिपाने की कोशिश करता रहा है जैसे उसके जूते देखकर उसे कोई चोर समझ लेगा.

यह ख्याल आते ही उसने पैंट को एकदम ऊपर खींचकर पेट पर कर लिया और जूतों की खाज खाये कुत्ते जैसी चमड़ी को देखकर उसने अपने आपको बहुत निरीह-सा महसूस किया. फिर उसने यह सोचकर पैंट नीचे करके पहुंचे जूतों पर गिरा लिए कि क्या हुआ. अगर वह अपने जूते-छिपाने की कोशिश करता है? उसके जूतों से आवाज तो आती है. फिर उसने यह सोचकर राहत महसूस की कि उसका अफसर तो ऐसे जूते पहनता है जिनकी आवाज नहीं आती. एकदम ऐक्शन में चोर की तरह आता है और किसी को पता नहीं चलता.

टूटे हुए तलेवाले जूते से अब चला नहीं जा रहा था. उसने जूते उतारे और नंगे पैर घर की तरफ लौट पड़ा. नंगे पैर चलते हुए उसे ख्याल आया कि पिछली बार वह गांव गया था तो उसने देखा था कि लोग अब भी नंगे पांव चल रहे थे बचपन में एक बार उसने अपने पिता से पूछा था. "हलकू जूते क्यों नहीं पहनता?" तो उन्होंने बताया था. "गांव का मोची सिर्फ जिमींदार परिवार के जूते बनाता है."

फिर ऐसा हुआ कि एक आदमी के पैर लहूलुहान हो गये. वह जूते लेने शहर गया. जब वह शहर से जूते लेकर आया तो गांव के गरीब लोग एक-एक करके शहर जाने लगे कि वे भी वहां से जूते लेकर आयेंगे. तब जिमींदार घबरा गया था कि सब शहर चले जायेंगे तो उसके खेतों पर मजूरी कौन करेगा. उसने मोची को दूसरे लोगों के भी जूते बनाने की इजाजत दे दी थी.

इस बार गांव पहुंचने पर लोगों को नंगे पैर चलते देखकर उसने हलकू से पूछा था. "क्या मोची फिर जिमींदार परिवार के ही जूते बनाने लगा है?"

"नहीं" हलकू ने उदास होकर कहा. "गांव का मोची शहर चला गया है. अब वह साहब लोगों के जूते बनाता है. ऐसे जूते जिन्हें पहनकर चलने से आवाज तक ना आये."

नंगे पैर चलते हुए उसे महसूस हुआ जैसे वह अभी-अभी गांव से शहर में आया है और उसे अभी तक जूते नहीं मिले. उसके हाथ में जूते नहीं खाज खाया पिल्ला है और घर जाकर उसे पानी में डिटोल डालकर नहलायेगा. जैसे उसके बच्चे गली के खाज खाये पिल्ले को नहलाते हैं. □

विलोम

मृदुला गर्ग

कोई व्यक्ति सोलह साल बाद अपने पुराने शहर वापस लौटे और उसे कुछ याद न आये. . .कई बार नहीं याद आता है कुछ, कुछ भी! क्यों होता है ऐसा, क्यों खो जाता है उस सब का अर्थ, जो हमारा अपना था. जवाब दे रही हैं सुपरिचित कथाकार मृदुला गर्ग—

यह ठीक है कि मैं इस शहर में सोलह साल बाद आयी हूं. सोलह साल बहुत होते हैं, यह भी जानती हूं. पर शहर कहीं से, कुछ तो जाना-पहचाना लगना चाहिए. यह कोई छोटा-मोटा, आऊ-जाऊ शहर नहीं. बंबई है. हिन्दुस्तान का अकेला महानगर. फिर एकदम भूल कैसे गयी इसे मैं?

बांबे सेंट्रल पर उतरी, वहां तक ठीक था. स्टेशन हर शहर के यकसां होते हैं अलग करके याद रखने लायक कुछ नहीं होता. अजनबी शहर के अजनबी स्टेशन पर उतरी तो उसकी अजनबीयत तक महसूस नहीं हुई.

टैक्सी पकड़ी और वरली पहुंच गयी. मेरे एक परिचित रहते हैं वहां. उन्होंने मेरे लिए एक कमरे का इंतजाम कर दिया था. सामान रखा, हाथ-मुंह धोया, चाय पी और काम से निकल पड़ी. काम क्या, बॉस ने कहा था, ख्वामख्वाह कांफ्रेंस करते हैं. हाथ कुछ लगता नहीं. चलो, इस बार तुम ही आओ. दफ्तर के खर्च पर घूमना हो जायेगा तो मैं आ गयी थी बंबई अपनी कंपनी की सभी बिक्री-शाखाओं की कांफ्रेंस थी नटराज होटल में. कंपनी का नाम? क्या करेंगे जानकर. वैसे जानें तो भी हर्ज नहीं है. [illegible] एंड कंपनी. कोई फर्क पड़ा? नहीं न, कंपनियां सब एक जैसी होती हैं. रेल के किराये के अलावा अपने अफसरों को दूसरे शहर में घूमने के लिए टैक्सी का भाड़ा भी देती है. और होटल का खर्चा, पर मुझे उतने ठाट-बाट से ठहरकर क्या करना था. पैसे बचेंगे तो घर के लिए कुछ जरूरी सामान खरीद लूंगी. एक अलार्म घड़ी, एक बड़ा पलंग. यही सब, और क्या. इसीलिए परिचित के घर ठहर गयी हूं. [illegible] भर तो है. आते वक्त 750 ग्राम मिठाई लेती आयी थी उनके लिए. ऐसा है कि एक किलो मिठाई लो तो महंगी पड़ती है और 500 ग्राम कम लगती है. पर एक किलो के डिब्बे में 750 ग्राम मिठाई रखवा लो तो कम दाम में ठाठ बढ़िया बन जाती है. इस बार एकदम [illegible] [illegible] दुनियादारी बन आयी हूं बंबई.

बॉस ने कहा था. तुम्हारा जाना-पहचाना शहर है. कोई दिक्कत नहीं होगी. ठीक कहा था. सोलह साल पहले मैं कंपनी की बंबई शाखा में ही काम करती थी और पैडर रोड पर बने कंपनी के मकान के एक कमरे में रहती थी. दो साल बाद दिल्ली तबादला हुआ था.

ठीक है, सोलह साल हो गये मुझे इस शहर में लौटे, पर शहर है आखिर, बच्चे से जवान तो हो नहीं सकता कि पहचान में न आये. जवानी में बनी पहचान कहां भूलती है. बूढ़ा होने पर भी, पूरा चेहरा न सही, दो-एक नक्श यादहाश्त में उभर ही आते हैं और उनके सहारे व्यक्ति पहचाना जाता है. यही होता है न, भूले-बिसरे, पुराने परिचित से मिलने पर! आदमी हो या शहर, जवान से बूढ़ा हो चला हो या . . . पर यह शहर! कहीं से भी तो पहचान नहीं आ रहा. अपार, अगम्य है इसका अपरिचय, इतना कि मन को कचोटता तक नहीं.

वरली से होटल नटराज गयी तो रास्ते में पैडर रोड पड़ी. टैक्सी से गयी थी न, कंपनी किराया जो देगी. देखा, अब उसका नाम जी. डी. देशमुख रोड है. क्यों बदल दिया करते हैं हमारे सरमायेदार सड़कों के नाम? जानते नहीं, सड़क से लोगों की यादें जुड़ी रहती हैं. क्या हक है सरकार को जनता से उसकी यादें छीनने का. सड़क का नाम किस आदमी के नाम पर है, वह हिंदुस्तानी था या अंग्रेज, स्थानीय या विश्व-विख्यात, इससे राहगीरों को क्या मतलब, उनकी यादें राह से जुड़ी होती हैं और राह की पहचान उसका नाम होता है. नाम उसका अपना होता है, सिर्फ उसका, किसी आदमजात का मोहताज नहीं. पैडर रोड पर

मेरा घर हुआ करता था. जी.डी. देशमुख रोड मेरे लिए क्या मानी रख सकती है? इसीलिए उस सड़क पर आकर मैंने कुछ महसूस नहीं किया, पर. . .ऐसा होता तो अपना घर देखकर मैं जरूर द्रवित होती. मेरा घर या मेरा कमरा जिस इमारत में था, उसका नाम था अजूमल मैंशंस. दिल्ली से चलने से पहले नाम मुझे याद दिलवाया गया था. कंपनी के स्थानीय बिक्री मैनेजर अब भी वहां रहते थे, उनसे मिलने की मुझे जरूरत पड़ सकती थी, इसीलिए मेरी टैक्सी अजूमल मैंशंस के सामने से गुजरी. सड़क के दायीं तरफ बनी इमारत पर लगी तख्ती मैंने पढ़ी—मैंने याद किया, हां, यहीं रहती थी मैं. याद आ गया मुझे, पर घर की कोई तस्वीर, किसी कोने की धुंधली-सी छाया भी मन में नहीं उभरी. तब मैं थोड़ा घबरा गयी. बॉबे सेंट्रल और वरली को न पहचान पाना इतना विस्मयकारी नहीं था, पर यह, मेरा अपना घर! ठीक है मैंने तय किया, कांफ्रेंस खत्म होने पर मैं वरली वापस नहीं आऊंगी, कुछ देर गेटवे आफ इंडिया पर जाकर बैठूंगी.

न जाने कितनी शामें मैंने इस समय दरवाजे के सामने बैठकर बितायी थीं. घंटों बैठी रहा करती थी वहां. तब तक, जब तक मुंह फाड़कर समुद्र सूरज को निगल न जाता, आसमान के साथ खुद स्याह न पड़ जाता, समुद्र की सतह पर खड़ा हर जहाज अंधेरे में गर्क न हो जाता. सदर दरवाजे के पीछे फैला समुद्र सिर्फ समुद्र नहीं, एक रास्ता था, जो उसके देश को जाता था. बंदरगाह में खड़े किसी एक जहाज पर दृष्टि जमाकर मैं आंखें मूंद लेती थी और. . .

कुछ नहीं करना पड़ता था मुझे. बस अपने को मुक्त कर देना होता था. और मैं जहाज के भीतर पहुंच जाती थी. फिर हिचकोले लेता जहाज मुझे ले चलता था उसके पास.... उसके देश.

उसका हाथ मेरे हाथ में आ जाता था और तृप्त आनंद से भरपूर मैं घंटों बैठी रहा करती थी, उस वासनाहीन स्पर्श को महसूस करती.

मैं गेटवे आफ इंडिया पहुंच गयी. मैंने देखा, एक भव्य सदर दरवाजा, नाम गेटवे आफ इंडिया. उसके सामने देखी एक आलीशान इमारत, नाम ताजमहल होटल. नजरें घुमायीं और देखा, दूर तक फैला विशाल समुद्र. उसकी सतह पर जहां-तहां दूर और पास खड़े दस-बारह दीर्घकाय जहाज. अति सुंदर. भव्य. बिल्कुल अजनबी यात्री की तरह परखा मैंने. समुद्री हवा की ठंडक ने बदन का पसीना सोख लिया. मुझे आराम मिला. बिना कोई आत्मीयता अनुभव किये प्रकृति के उपहार को सराहा मैंने. फिर . . . सदर दरवाजे के सामने मुंडेर पर बैठकर समुद्र का ग्रास बनते कांपते-कंपकंपाते सूरज का अवसान भी देख लिया. देखा, परखा, सराहा, बस. महसूस कुछ नहीं किया.

ऐसा क्यों हुआ? यहीं बैठकर तो उसने मुझसे कहा था, "तुम्हारे मेरे बीच बस इस समुद्र जितना फासला है."

तभी तो उसके चले जाने के बाद, कितनी-कितनी शामों को मैं यहां बैठकर उसके देश तक हो आया करती थी.

यह सब मुझे याद है. फिर यह शहर मुझे याद क्यों नहीं?

शायद मैं गलत जगह आ गयी थी. गेटवे आफ इंडिया मेरे संताप का साक्षी रहा था, इसलिए मेरा अवचेतन उसे भूल गया होगा.

पर पेडर रोड का मेरा घर? वह भी तो उसके चले जाने के बाद, उस घर के अंदर, कम मायूस शामें बितायी थीं मैंने?

उन दिनों मैं बंबई शहर की तरफ देखती कहां थी? हर जर्रे में मुझे वह दिखलाई देता था, तभी तो.

मैंने आंखें बंद कर लीं. शरीर को ढीला छोड़ दिया और इंतजार करने लगी कि उन दिनों की तरह, उसका चेहरा उभरकर सामने साकार हो जाये. इंतजार में भरी उम्मीद की गंध से ही रोम-रोम लहक उठा तो वाकई चेहरा सामने आने पर. . आह, अभूतपूर्व होगा•वह क्षण, रोमांचक और तृप्तिदायक.

इसकी तुलना में बंबई शहर को न पहचान पाना कितनी मामूली बात थी. जिस आदमी के लिए मुझे शहर दीखना बंद हो गया था, आज इतनी कोशिश के बाद उसका चेहरा तक मुझे याद नहीं आया.

ऐसा नहीं हो सकता. कभी नहीं हो सकता. मैं उसे भूल नहीं सकती. भूली नहीं.... फिर याद क्यों नहीं कर पा रही. कैसा है यह बंबई शहर कि मेरे जीवन का आधार, मेरा स्मृति-भंडार ही छीने ले रहा है मुझसे. कहीं पागल तो नहीं हो रही मैं? पागलपन के ही लक्षण हैं ये, वरना अपनी सबसे प्रिय, सबसे उत्कट स्मृति किसी से कैसे छिन सकती है!

नहीं-नहीं, संभालना होगा खुद को. थामना होगा आवेग को. बुद्धि से काम लेना होगा. तर्क शक्ति की कमी नहीं है मुझमें.

हां, मैं गलत जगह आ गयी हूं. इतना संताप भोगा था यहां कि मैं याद करना नहीं चाहती. अवचेतन पलायन कर रहा है. स्वतः मुझे भूलने पर मजबूर कर रहा है.

पर मैं भूलना नहीं चाहती. भूल गयी तो जिऊंगी कैसे? निपट अकेले? मुझे ऐसी जगह जाना होगा, जो उसके विछोह की नहीं, प्राप्ति की साक्षी रही हो. यही ठीक है. हां, यही ठीक है. बार-बार मैंने खुद को यकीन दिलाया और पसीने से तरबतर बदन को खींच-खांच, उस रात किसी तरह घर ले आयी.

अगले दिन, दोपहर को कांफ्रेंस मैंने बीच में छोड़ दी. चर्च गेट स्टेशन गयी और मलाड जानेवाली लोकल ट्रेन का टिकट खरीद लिया.

उस दोपहर, मुझे याद है, उसके बंबई छोड़कर चले जाने के कुछ दिन पहले, हम दोनों इसी तरह धीमी लोकल में बैठकर मलाड तक गये थे. सारा रास्ता वह मुझे अपने बारे में बतलाता गया था. तभी मैंने उसे संपूर्ण पाया था. उसके बाद वह मुझे छोड़कर चला गया था.

कितनी बड़ी विडंबना थी कि ठीक उन क्षणों में, जब वह अपने आपका संपूर्ण मुझे दे रहा था, मैं उसे सबसे कम समझ पायी थी. सच तो यह है कि संपूर्ण रूप से उसने दिया जरूर, पर मैं ले न सकी. फिर भी, बाद में जब-जब उसे याद किया तो लगा, उस दिन लोकल ट्रेन में बंबई के एक बड़े इलाके से गुजरते हुए, मैंने उसे पाया, जो पाया, और नहीं.

वह बोल रहा था, केवल हृदय की गहराइयों से नहीं, दृढ़ संकल्प के साथ लक्ष्य की ओर बढ़ने के निर्णय में से, और मैं थी कि उसकी बातों में काव्यात्मक रस ले रही थी. उसकी बातें मुझे रामराज्य की उस निर्दोष परिकल्पना की तरह लग रही थीं, जिसमें राम ने धोबी के आरोप पर सीता को देश-निकाला नहीं दिया था; उसकी अग्नि परीक्षा भी नहीं ली थी; कहीं कुछ गलत नहीं हुआ था और न हो सकता था. इतना सुंदर सपना देखने वाला आदमी परियों के देश के राजकुमार से भी ज्यादा मनमोहक होगा, नहीं? मुझे तो उसने सर्वांग मोह लिया था. इतना प्यार आ रहा था उसपर कि लग रहा था, उसके लिए कुछ भी कर सकती हूं. पर किया क्या मैंने? ठोस धरती का संबल छोड़, छोटा-मोटा सपना भी न देख सकी. मैंने प्यार किया, विश्वास नहीं.

जब उसने कहा, वह बिहार के दुमका जिले में किसी गांव में रहकर काम करना चाहता है तो अपने ही सपनों में खोयी मैं मुस्करा पड़ी थी. प्यार से चिहुंककर पूछा था, "क्यों?"

"बंधुआ मजदूरों के साथ रहकर उनकी समस्याओं को समझने के लिए, उन्हें उनका हक दिलाने में मदद करने के लिए." उसने कहा तो मेरी मुस्कराहट गायब हो गयी. सच कहूं तो मैं आशंका से कांप उठी. याद रखिए, यह सोलह साल पहले की बात है. बंधुआ मजदूरों की बात करने वाले लोग उन दिनों नक्सलवादी कहलाते थे. और उनका नाम कहीं सुनने में आ जाने पर दुनियादार जन वहां से भाग खड़े होते थे या अपना माल-असबाब बचाने की फिक्र में लग जाते थे. जहां तक बंधुआ मजदूरों का सवाल था,मैंने तब तक सिर्फ अर्थशास्त्र की किताबों में पढ़ा था.

यह तो, आप समझिए, पिछले दस बरसों से हर किसी की जबान पर उनका नाम चढ़ गया है, तब से जब से बंधुआ मजदूरी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है. अजीब मजाक है, सैंतीस साल पहले देश का संविधान बना तो बंधुआ मजदूरी अवैध थी, पर अगले सत्ताइस साल तक जैसे किसी ने संविधान पढ़ा ही नहीं, खुद केंद्रीय सरकार ने तो नहीं. फिर अचानक अवैध को खूब धूम-धाम के साथ दुबारा गैर-कानूनी घोषित किया गया. बंधुआ मजदूरों पर जमकर उपन्यास-नाटक लिखे जाने लगे, फिल्में बनने लगीं; हर किसी को उसका अर्थ समझ में आ गया, पर उनके हालात में कोई फर्क नहीं आया, बल्कि बद से बदतर ही हुए, पर सोलह साल पहले मुझे यह सब कहां मालूम था.

उसकी बात सुनी तो सटाक मेरे मुंह से निकला, "क्या रे, तुम नक्सलवादी हो क्या?"

"हूं तो?" इतनी देर बाद वह हल्के से मुस्कराया.

"हो? सचमुच हो?" मेरी आशंका आतंक से घिरने लगी.

"वादी-प्रतिवादी मैं नहीं जानता. तुम्हारे लिए इतना ही काफी है कि मैं उन इंसानों की मदद करना चाहता हूं, जिन्हें हम लोग इंसान का दर्जा देने से इनकार करते आये हैं."

"तुम! तुम्हें हम लोगों से क्या? बिहार क्या तुम्हारा देश है?

"हां."

"कैसे?"

"है, मेरा देश है. जैसे तुम मेरी हो."

"मेरे कारण?" हुलस उठी थी मैं, "मेरे कारण तुम मेरे देश को अपना बनाना चाहते हो?"

तब उसने मेरा हाथ अपने हाथ के ऊपर से हटा दिया था. दूर होकर बैठने की जगह डिब्बे में नहीं थी, पर मुझे लगा था यथा-संभव वह परे सरक गया है. फिर अपने और मेरे बीच दूरी बनाये रखकर, उसने गंभीर स्वर में पूछा था, "तुम चलोगी मेरे साथ?"

"तुम्हारे साथ मैं कहीं भी चलने को तैयार हूं."

वह एकदम चुप बना रहा. पास खिसककर मैंने अपना सिर उसके कंधे पर रख दिया. उसने धीरे से हटा दिया. कहा फिर भी कुछ नहीं.

एक साल बाद किसी ने मुझे बतलाया कि उसके नाम के एक आदमी को हमारी सरकार ने बिहार के किसी इलाके से गिरफ्तार किया है तो मैंने सोच लिया, कोई दूसरा आदमी होगा. फिर पांच साल बाद अखबार में पढ़ा कि उसके नाम के एक आदमी को रिहा कर दिया गया है, पर पुलिस के पहरे में देश छोड़कर जाने पर मजबूर किया गया है.

जब वह मुझे छोड़कर गया, तभी मैंने अपने को समझा लिया था कि उसके जाने का एक ही कारण हो सकता था, वह यह कि भरपूर चाहने के बावजूद, वह समुद्र भर के फासले को पाटने की हिम्मत नहीं जुटा पाया था. मुझे जैसे ठीक-ठीक मालूम था कि मुझे छोड़कर वह अपने देश लौट गया है. बहुत दिन पहले, एक शाम, उसने मुझसे कहा जो था, "मेरे तुम्हारे बीच फासला ही कितना है, बस समुद्र भर का." उसके बाद बंदरगाह से दूर होते जा रहे जहाज को दिखलाकर यह भी कहा था, "देख रही हो उस जहाज को, समद्र को लांघकर दूसरे तट पर पहुंचना कोई मुश्किल काम नहीं, इसलिए हमारे बीच का यह फासला. . . "

मेरा हाथ उसने अपनी मुट्ठी में भींच लिया था. बाद में, समद्र तट पर हंसी-हंसी में कहे गये इन्हीं वाक्यों पर, मैं अपनी मुट्ठी कसे रही थी. उनके सहारे, अनगिनत शामों को, गेटवे आफ इंडिया पर बैठे-बैठे उसके देश तक सफर कर आयी थी. एक क्षण को भी मैंने विश्वास नहीं किया था कि सचमुच वह बिहार में दुमका जिले के किसी गांव में जाकर बस गया है, पर आज, सोलह साल बाद, बंबई के सीने पर धीमी गति से रेंगती इस लोकल की खिड़की से बाहर देखते-देखते अविश्वास का धुंधलका छंट रहा है.

उस दिन उसने मुझसे कुछ नहीं कहा था, क्योंकि वह जानता था, समुद्री फासला तय करना आसान है, मंजिल का फासला मिटाना नामुमकिन. मैं कुछ नहीं जानती थी. जंगल में रहने वाले जानवरों की तरह अपने बचाव की तदबीर खूब अच्छी तरह जानती थी. सीखनी नहीं पड़ी थी. ऊपरी मंजिलों पर रहनेवाले सभ्य लोगों के बच्चे, अभिमन्यु की तरह, कोख में ही सब कुछ सीख लेते हैं. फर्क सिर्फ इतना है कि अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदने का तरीका सीखा था, उसमें से बाहर

मृदुला गर्ग

निकलने का नहीं और हम केवल निकलने की तरकीबें सीखते हैं, भीतर घुसने की नहीं. वंशगत विरासत के रूप में हमारे मां-बाप हमें ऐसी स्वार्थी उदासीनता दे जाते हैं, जो जीवन के हर मोड़ पर हमें चक्रव्यूह में घुसने से रोके रखती है, अभिमन्यु के विलोम हैं हम सब.

अभिमन्यु की कथा मैं जानती थी, अभिमन्यु को नहीं. अभिमन्यु जैसे लोग शायद अब संसार में पैदा नहीं होते. होते हैं तो समाज उन्हें बहिष्कृत करके ही दम लेता है. जिसे मैंने अपने आस-पास कभी देखा नहीं, जाना नहीं; अचानक, अप्रत्याशित ढंग से मिल जाने पर उसे मैं कैसे पहचान सकती थी ? उसने कहा, वह दुमका के उस गुमनाम गांव में जाकर बस रहेगा तो मुझे उसमें एक दिलफेंक सपना भर दीखा, एक रोमानी कविता.

आज सब कुछ मेरी समझ में आता जा रहा है. आज सोलह बरस बाद, इस लोकल ट्रेन में अकेले इस अजनबी शहर में सफर करते, जब मेरे देखते-देखते शहर अपनी अजनबीयत खोने लगा है.

लोकल ट्रेन मैंने दोपहर को पकड़ी है. सुबह-शाम जितनी ठसमठस नहीं है डिब्बा में. बैठने की जगह मिल गयी है. खिड़की से बाहर की झोंपड़पट्टियां बराबर नजर आ रही हैं. झुग्गी बस्ती, फिर स्टेशन, फिर झुग्गी बस्ती, फिर स्टेशन. गरीबी, गंदगी, फटेहाली, फिर स्टेशन, भूख, तंगहाली, सड़ांध, फिर स्टेशन. अब जाकर पहचान पा रही हूं बंबई शहर को. झोंपड़पट्टियों का गुणा और जोड़, बस इतना ही अस्तित्व है इस महानगर का. दुमका के उस गांव जैसे छप्पर छजे अनेक खस्ताहाल गांव आंखों के सामने से गुजर गये तो मैं समझी, सोलह साल पहले, उस दोपहर मैंने उसके साथ कहीं भी चलने की हामी नहीं भरी थी; ऐलान किया था, कहीं भी उसके साथ न रह पाने का. दुमका का गांव, बंबई की बस्ती, लेशमात्र भी तो फर्क नहीं है दोनों में.

मेरी बात के मर्म को वह समझ गया था, एकदम सही-सही समझ गया था. मैं ही जान-बूझकर नासमझ बनी रही थी.

अब मैं समझी, कल वरली से लेकर गेटवे आफ इंडिया तक मैं बंबई की किसी सड़क, किसी इमारत को पहचान क्यों नहीं पायी थी. मैं जानती थी, अपने भीतर गहरे में कहीं जानती थी, जो दिखलाई दे रहा है, वह सच नहीं है. दरअसल यह कांक्रीट की बीस-बीस मंजिला इमारतें, झोंपड़पट्टियां हैं, जर्जर, खस्ताहाल, झोंपड़पट्टियां, जो दीख रहा है, तिलिस्म है, माया. ये मायावी इमारतें उन्हीं झोंपड़पट्टियों की नींव पर खड़ी हैं और किसी भी क्षण भरभराकर धूल में मिल सकती हैं.

मलाड स्टेशन पर मैं उतरी और पैदल रास्ता तय करने लगी. एक-एक झोंपड़पट्टी मेरे लिए अलग अस्तित्व लिये खड़ी थी. उसे आत्मसात करती मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी कि सुबह सूरज के उगने की तरह, मेरे बराबर में उसका चेहरा साफ उभर आया. फिर पूरे कद-बुत में उसकी आकृति. मेरे इतने करीब कि हाथ से छूकर देखने की जरूरत भी नहीं पड़ी. उसका कंधा मेरे कंधे से लगा हुआ था और तमाम विलोम भूल मैं दृढ़ता से आगे बढ़ रही थी. ◻

● सी-1/9 सफदरजंग विकास क्षेत्र, नयी दिल्ली–110016

चिड़िया ऐसे मरती है

अशोक अग्रवाल

मयंक की आंखें रोशनी को अपने भीतर भर लेना चाहती है. पूरे बीस दिन बाद उसने उस अंधेरी दुनिया से मुक्ति पायी है जहां तख्त की सख्त पीठ पर एकदम सीधे दोनों पैर फैलाये उसका शरीर था, और उसके नीचे यूरिन-पॉट तथा बैडपेन रखे थे. मम्मी उसके माथे को छूते हुए चिंतित आवाज में समझाती, "बिल्कुल भी हिलना-डुलना नहीं है. जितना अधिक हिलोगे उतने ही अधिक दिन ऐसे ही लेटे रहना पड़ेगा." चम्मच से पानी, दूध या मौसमी का रस उसके मुंह में डालती रहती. मुंह साफ करती और थोड़ी देर बाद ही तख्त के नीचे से यूरिन-पॉट निकालते हुए उसके हाथ में पकड़ाती, "ओफ्फो. . . हद है तुमसे भी. तुम्हें कोई नहीं देख रहा है. मैंने भी अपना मुंह पीछे कर लिया है." मयंक को लगता उसका पेशाब जम गया है. बहुत कोशिश करने पर पेशाब पिघलता हुआ बूंद-बूंद में निकलना शुरू होता. काफी देर बाद यूरिन-पॉट मम्मी की तरफ बढ़ाता हुआ वह उसका रंग ध्यान से देखता. मम्मी बाहर चली जाती तो गणेशी या

"मेरा कमरा बहुत विशाल है. तुम बरसों तक बिना थके साइकिल चलाते रहो तब भी उसकी एक दीवार तक नहीं सकते. सारी नदियां और समुद्र उसी के अंदर बहते हैं. मेरे कमरे में इतने पेड़, पहाड़ और पक्षी हैं कि तुम उनकी गिनती नहीं कर सकते!"—कैसे होते हैं वे लोग जो इतने बड़े कमरे में रहकर स्वयं उससे भी विशाल हो जाते हैं और कैसा होता है उनके प्रति उन लोगों का व्यवहार जो जरूरत से ज्यादा कमरों में रहने के बावजूद अपने लिए और अधिक कमरों की तलाश में लगे रहते हैं? . . . जीवन की इस विसंगति को अनेक स्तरों पर रेखांकित करती कहानी—

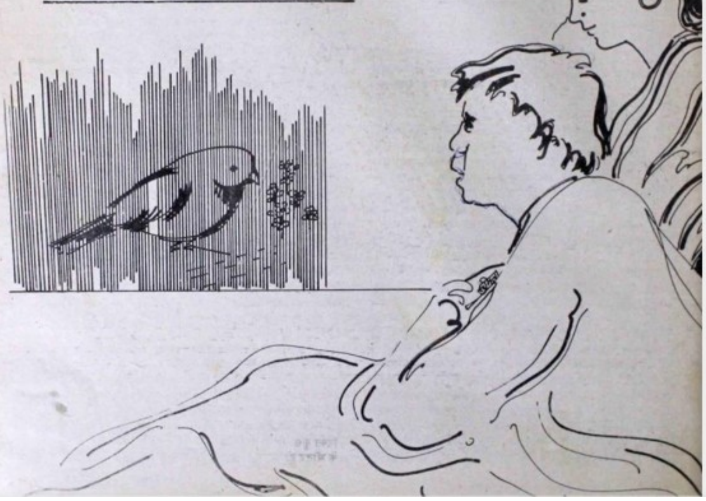

भानु उसके पास आ जाते. मयंक पास बैठे हुए भानु के झुंझलाहट से घिरे चेहरे को देखता रहता. उसे पता था भानु के लिए वहां बैठे रहना किसी सजा से कम नहीं है. मयंक का मन करता कि भानु उससे ढेर सारी बातें करें लेकिन वह उसकी उपेक्षा करता हुआ किसी खेल में जुट जाता या कई बार पढ़ लिये गये कॉमिक्स में खो जाता और मौका पाते ही कमरे से बाहर नकल जाता.

मयंक को कम से कम अब उस अंधेरी कैद से मुक्ति मिल गयी है. डाक्टर ने उसे टायलेट तक उठकर जाने की अनुमति देदी है. कूल्हे का दर्द भी अब धीरे-धीरे सिमटने लगा है. मयंक की जिद के कारण अब उसका बिस्तर इस बाहरवाले कमरे में चला आया है, जिसकी बड़ी खिड़की सड़क की दिशा में खुलती है और बिस्तर पर बैठे-बैठे वह बड़े आराम से सड़क के दृश्यों को अच्छी तरह देख सकता है. . . लेकिन उसे यह खिड़की खुली रखने की इजाजत नहीं है. बायीं दिशा की खिड़की खुलते ही बगीचे का बड़ा हिस्सा उसके आगे आ जाता है. गणेशी इस वक्त क्यारियों में लगे पौधों को पानी दे रहा है. क्यारियों के पार छोटा घास का मैदान और उससे कुछ दूरी पर ही यूकिलप्टिस के पौधों का विशाल झुंड. उन्हें इस नयी जगह पर आये सिर्फ छह माह ही हुए हैं. इन छह माह में ही आश्चर्यजनक गति से बढ़ते हुए यूकिलप्टिस के छोटे पौधे लंबाई में फैलते हुए पांच-छह फुट तक पहुंच गये हैं.

"यह बरगद कितने साल का होगा ?" मयंक ने मम्मी से पूछा था.

"कम से कम डेढ़ सौ वर्ष का. . . यह बहुत बूढ़ा है."

"ये यूकिलप्टिस के पौधे क्या बरगद की ऊंचाई को पार कर सकते है ?"

"सिर्फ दस-बारह साल में ये उसे पीछे छोड़ देंगे." मम्मी ने हंसते हुए बताया तो वह आश्चर्य में पड़ गया था. दो पेड़ों की वृद्धि और उनकी उम्र का गणित वह समझ ही नहीं पाया.

"डेढ़ सौ वर्ष बाद तो ये आकाश को छूने लगेंगे."

"नहीं. . . हम इन्हें दस वर्ष बाद ही कटवा देंगे." मम्मी ने बताया तो मयंक कहीं उदास हो आया था. मयंक अब जब भी उन्हें देखता है तो उसे उनका बढ़ना नहीं, कटना याद आता है. सिर्फ दस वर्ष और. . . मयंक पोरों पर अपनी उम्र गिनना शुरू करता है. ठीक 2 वर्ष 22 दिन बाद वह दस वर्ष पार कर लेगा. उसका मन विचित्र-विचित्र कल्पनाओं में उड़ान भरता है. आदमी भी यदि ठीक पेड़ की तरह बढ़ता तो क्या उसे भी काटा जा सकता था? आदमी का कद एक समय बाद बढ़ना क्यों रुक जाता है ? यदि वह लगातार बढ़ता रहे तो कितने साल बाद इस बरगद के पेड़ की ऊंचाई तक पहुंच सकता है ?. . .फिर इन सब मकानों का क्या होगा जिसमें वह रहता है? उसके लिए कितने लंबे-चौड़े पलंग, रिक्शे, मोटरें और रेलगाड़ियां बनवानी होंगी ? उसकी इच्छा होती है कि वह इसी वक्त भानु को आवाज देकर बुलाये और ये सारे विचित्र सवाल उसके सामने रखे तो वह भी कितना भौचक्क हो जायेगा.

मयंक जहां लेटा है, वह इस विशाल बंगले का पुराना कमरा है. कमरे की दीवारों का ऊंचाई में जहां अंत होता है और छत शुरू होती है, वहां लगभग तीन इंची चौड़ी नाली चारों दीवारों को परस्पर मिलाती हुई चली गयी है. नाली के कोने में सूखी हुई घास और तिनकों से बना घोंसला है. एक चिड़िया मुंह निकालती हुई चौकन्नी निगाहों से पहले दायें-बायें देखती है और फिर चीं. . . चीं. . . करती हवा में गोता लगाती हुई दरवाजे से बाहर हो जाती है. थोड़ी देर बाद वह वापस लौटती है तो उसकी चोंच में एक तिनका अटका होता है. घोंसले के भीतर उस तिनके को गिराते हुए वह फिर चीं. . . चीं. . . की आवाज करती है. दो छोटे-छोटे बच्चे फुदकते हुए अपना मुंह बाहर निकालते हैं. चिड़िया चोंच मारते हुए उन्हें फिर घोंसले के भीतर कर देती है. मयंक देर तक यह खेल देखता रहता है. भानु ने यह घोंसला नहीं देखा है. वह उसे सबसे पहले इसे ही दिखायेगा.

मयंक की आंखें कब लग गयी थीं उसे पता ही नहीं चला. वह जब जागा तो देखा गणेशी दूध का गिलास लिये उसके पास खड़ा है.

"गणेशी पंखा खोल दे." कहता हुआ भानु मयंक के पास आकर बैठ गया.

मयंक ने देखा, चिड़िया इस वक्त कहीं नहीं थी. वह दाना या तिनका लेकर जब लौटेगी तो वह उसे भानु को दिखायेगा.

पंखा घर्र-घर्र की तेज आवाज के साथ हवा फेंकने लगा. तभी मयंक ने देखा, चिड़िया फड़फड़ाती और कांपती-सी घोंसले से बाहर निकल आयी है. चिड़िया बाहर नहीं घोंसले के भीतर ही थी. मयंक ने देखा, उसकी गर्दन फूलती हुई गुब्बारा बन गयी थी. पंख फड़फड़ाती हुई वह धीरे-धीरे दूसरे कोने की दिशा में बढ़ रही थी. तभी घोंसले से बाहर निकलते हुए दोनों बच्चे ची. . . चीं. . की तेज आवाज कर उठे. चिड़िया की चीं. . . चीं. . . अनवरत तेज चीख में बदल गयी थी. चिड़िया ने पंखे की दिशा में गोता लगाया. घर्र-घर्र की तेज आवाज और पंखे की घूमती हुई पंखड़ियों की आंधीनुमा हवा ने उसे बीच रास्ते ही वापस लौटा दिया. मयंक ने देखा चिड़िया पूरी तरह दहशत और आतंक से घिर गयी थी. कुछ ही देर बाद वह फिर पंखे की तरफ लपकी. पंखे से टकराते ही तेज आवाज हुई और मयंक तेजी से चिल्लाया, "भानू ! पंखा बंद करो."

कमरे में गहरी खामोशी छा गयी थी. मयंक ने डरते-डरते आंखें खोली. उसे पूरा विश्वास था कि कटी हुई चिड़िया वहीं फर्श पर गिरी हुई दिखायी देगी. वह सुखद आश्चर्य से घिर उठा जब उसने पाया, चिड़िया अपनी पुरानी जगह डरी हुई दुबकी बैठी थी. अपने दुश्मन की अकूत शक्ति का अहसास उसे अच्छी तरह हो गया था. कुछ ही देर बाद घोंसले के भीतर से चीं-चीं की मिलीजुली आवाजें कराहती हुई-सी बाहर आनी शुरू हो गयी. चिड़िया ने अपनी गर्दन घुमायी, एक बार पंखे की तरफ देखा और दूसरे ही क्षण उड़ती हुई घोंसले में जा छिपी.

भानू ने देखा, मयंक अब धीरे-धीरे मुस्करा रहा था. इतनी-सी देर में उसका पूरा माथा पसीने से नहा उठा था.

"मैं गणेशी को लाता हूं. वह इस घोंसले को बाहर फेंक देगा." भानू उठते हुए बोला.

"नहीं. . . नहीं. . . पंखा चलाने की जरूरत ही क्या है ? गर्मी बिल्कुल नहीं है." भानू को रोकते हुए मयंक जल्दी से बोला.

"मैं यहां. . .इस घुटन में बिल्कुल नहीं बैठ सकता." भानू दरवाजे की दिशा में खिसका.

"तुम खिड़की खोल दो." मयंक ने उस बंद खिड़की की ओर इशारा किया जो सड़क की दिशा में खुलती थी.

"नहीं. . .इसे नहीं खोला जा सकता. मैंने कुछ देर पहले ही साइकिल चलाते हुए गेट के छेद से देखा था. वह दाढ़ीवाला आदमी अभी भी उसी जगह बैठा हुआ है. उसका मुंह हमारी कोठी की ओर ही है." भानू धीमी आवाज में फुसफुसाया.

"क्या वह अभी भी वहीं बैठता है ?" मयंक ने उत्सुकता से पूछा.

"हां. . .तिकोनी के उसी कोने में. रात में सोता भी वहीं है. हमेशा इसी तरफ देखता रहता है." भानू वापस मयंक के पास आकर बैठ गया. उसके चेहरे पर एक अनजानी चिंता उभर आयी थी.

सब कुछ मजे में चल रहा था. इतनी विशाल कोठी में रहने की कल्पना मयंक ने कभी नहीं की थी. पहले ही दिन वह और भानू एक-एक कमरे की गिनती करते रहे थे. कमरे के अंदर कमरा खुलता चला जाता और वे भूलभुलैया में खोते हुए सही संख्या भूल जाते. हार मानकर उन्होंने रंगीन चाक का सहारा लिया. कुल कमरों की संख्या अड़तालिस थी. बरगद के दो विशालकाय पेड़ थे, इनके अतिरिक्त कुछ पेड़ जामुन, आम और पपीतों के थे. यहां आने के पंद्रह दिन के भीतर ही खाली मैदान में यूकिलप्टिस के हजारों पेड़ लग गये थे.

पुरानी चार दीवारी को तुड़वाकर आठ फुट ऊंची नयी मजबूत दीवार खड़ी करवा दी गयी थी. सड़क की तरफ खुलनेवाली दिशाओं में भारी भरकम विशालकाय लोहे के दरवाजे लग गये थे. गेट के दोनों पट जब परस्पर जुड़ते तो वहां नाचते हुए मोर की रंग-बिरंगी भव्य आकृति जन्म ले लेती. जैसे ही गेट खुलता नाचता हुआ मोर दो टुकड़ों में बंट जाता. क्यारियों के दोनों तरफ तथा पूरी चारदीवारी के ऊपर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बिजली के गोल लैंप फिट हो गये थे. रात में चारदीवारी, क्यारियों और पेड़ों के इर्द-गिर्द के लैंप जब एक साथ जल उठते तो पूरी कोठी रंग-बिरंगी रोशनी में नहा उठती. रात उतरते ही मयंक और भानू भाग-भागकर सारे लैंपों के स्विच ऑन करने में जुट जाते. यह उनका दिलचस्प खेल था.

कोठी के गेट के ठीक सामने से गुजरनेवाली मुख्य सड़क थोड़ा-सा आगे बढ़ते ही दायें-बायें दो बाजुओं में विभक्त होती हुई विपरीत दिशाओं में मुड़ती थी. दोनों बाजुओं के बीच एक छोटा-सा तिकोना पार्क बना था—पार्क की तीनों भुजाओं को जंग खाये लोहे का रेलिंग जोड़ता था. पार्क में जंगली घास बेतरतीब उगी हुई थी. यही छोटा-सा पार्क सारी मुसीबतों की जड़ था. अंधेरा होते ही कुछ आवारा किस्म के छोकरे उस पार्क में आकर बैठ जाते. बीड़ियां धौंकते रहते, ताश खेलते रहते या यूंही परस्पर जोर आजमाइश करते हुए ठहाके लगाते रहते. ये सब निर्बल परिंदों की तरह थे जिनकी उपस्थिति का कोई असर इस कोठी में रहनेवाले प्राणियों पर नहीं पड़ा था. शुरू में नयी खूबसूरत कमीज पर चिपके पैबंद की तरह यह पार्क और ये आवारा किस्म के छोकरे उनकी सौंदर्याभिरुचि को ठेस पहुंचाते थे किंतु शीघ्र ही वे सब उनकी अनिवार्य उपस्थिति के अभ्यस्त होते चले गये. एक माह पूर्व यकायक इस स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन हो गया. देखते-देखते उस पार्क में बैठनेवाले आवारा व्यक्तियों की संख्या कम होती चली गयी. यहां तक कि पार्क में पायी जानेवाली देशी शराब की खाली बोतलें, बीड़ियों के टोटे, ताश के फटे हुए पत्ते और ऐसी ही फालतू चीजें अब वहां यदकदा ही नजर आतीं. इन सभी चीजों की जगह एक आदमी ने लेली जो निश्चय ही पचास की उम्र को पार कर चुका था. उसकी दाढ़ी और सिर के बाल बड़ी संख्या में सफेद हो चले थे. पता नहीं, वह धरती के किस कोने से चलता हुआ यहां आकर ठहर गया था. तिकोने पार्क के एक कोने में उसने अपनी गृहस्थी बसा ली. चार-पांच टाट की बोरियां रेलिंग पर पड़ी हुई झूलती रहतीं. सामान के नाम पर उसके पास सिर्फ एक खाकी रंग का बड़ा-सा थैला था. जबसे वह यहां आया था उसके शरीर पर वही दो कपड़े थे—सलेटी रंग की पैंट तथा हरे रंग की कमीज. वह रात में किस वक्त नींद लेता है, कब सुबह सोकर उठता है, कब आवश्यक नित्यकर्मों से निवृत्त होता है, कब और क्या खाता है? बहुत कोशिशों के बावजूद कोई भी उसके बारे में नहीं जान सका. वह हमेशा उन्हें उसी कोने में बैठा हुआ या रेलिंग से सिर टिकाये हुए नजर आता. कभी-कभी उसके हाथ में कोई खुली हुई किताब नजर आती जिसके विषय के बारे में इतनी दूरी से कोई भी अनुमान नहीं लगा पाता था. उन आवारा व्यक्तियों के जमघटे तक ने उन्हें कभी एक क्षण के लिए भी चिंतित नहीं किया था किंतु इस बूढ़े की निरंतर उपस्थिति ने उनकी शांति में खलल और सुरक्षा में दरारें डालनी शुरू कर दी थी जो दिन-प्रतिदिन और अधिक गहरी होती जा रही थीं. उन्हें वह बूढ़ा अत्यंत रहस्यमय प्रतीत होता जिसके बारे में वे कोई भी एक मत नहीं बना पा रहे थे. लगभग पंद्रह दिन पहले उन्हें एक छोटा बच्चा उस बूढ़े के पास नजर आया. बूढ़ा कोई किताब खोले उसे दिखा रहा था. दो दिन बाद ही उस लड़के के साथ एक लड़की आने लगी थी. बहुत जल्द ही उनकी संख्या सात-आठ तक पहुंच गयी थी. बूढ़ा अब अक्सर उनके साथ खेल करता नजर आता. बच्चे अब खाली हाथ नहीं आते थे. उनके हाथ में तख्ती, दवात और कोई न कोई किताब होती. बच्चों के गिनती गिनने की तेज आवाज गेट को पार करती हुई उन तक भी पहुंचती.

"लगता है, यह बूढ़ा यहां स्कूल खोल रहा है." मम्मी चिंतित आवाज में कहती.

"स्कूल क्या, पूरी भंगी बस्ती को यहां बटोर लाया है." पापा गुस्से में कहते.

सड़क के ठीक दूसरी तरफ भंगियों की छोटी बस्ती थी. . . मुश्किल से तीस-चालीस घर.

"पता नहीं, इतनी शानदार जगह इन्हें झोंपड़िया डालने की इजाजत किसने देदी ? इनकी शिकायत करनी होगी.' मयंक और भानू सिर्फ गुस्से से लाल होते पापा के चेहरे की तरफ देखते रहते जो रह-रहकर उस दिशा की तरफ मुट्ठी तान रहे होते, जहां सिर्फ आदमकद चारदीवारी से सटे हुए पेड़ हिल रहे होते. मयंक और भानू सोचते, शायद पापा की आंखें चारदीवारी के पार की सड़क और सड़क के पार की उस बस्ती को अच्छी तरह देख पा रही है जिन्हें वह बिल्कुल भी नहीं देख पा रहे हैं.

"मुझे तो यह आदमी कोई भेदिया मालूम होता है." मम्मी चिंतित आवाज में पापा से कहती, "तुम तो सुबह ही फैक्टरी चले जाते हो, मैं पीछे अकेली रह जाती हूं."

"क्या यह हर वक्त यहीं बैठा रहता है?" पापा पूछते.

"ठीक एक ही मुद्रा में. उसकी आंखें हमेशा हमारी कोठी की ओर ही उठी रहती है." मम्मी फिर धीरे-से फुसफुसाती, "कहीं यह कोई जासूस तो नहीं है ?"

"तुम्हारा तो दिमाग खराब हो गया है." पापा, मम्मी को झिड़क देते, "कुछ नहीं, कोई सनकी आदमी लगता है. हो सकता है मस्तिष्क में कोई खराबी हो."

"मुझे तो यह बहुत चालाक नजर आता है. तुमने कभी उसकी आंखों की तरफ देखा है ? हमेशा लाल रहती है. जरूर यह हमारी कोठी का भेद ले रहा है."

". . . लेकिन उसने अभी तक हमसे कुछ कहा तो नहीं है." पापा उलझन में पड़ जाते, "इसके आने से तो हमें फायदा ही हुआ है. बदमाशों की भीड़ भी गायब हो गयी."

"इसी बात से तो मुझे इस पर शक होता है. गुंडे लोग कभी इतनी आसानी से अपना ठिया छोड़ते हैं. जरूर यह कोई खतरनाक आदमी है जिससे वे सब बदमाश भी दबते और डरते हैं."

मम्मी के इस तर्क के आगे पापा भी निरुत्तर हो जाते, "इसकी तरफ ध्यान ही मत दो. आखिर यह कब तक यहां जमा रहेगा? बारिश का मौसम आने ही वाला है. पानी और ओलों की बौछारें इसे अपने-आप यहां से उखाड़ फेंकेंगी." पापा हंसते हुए कहते.

वे सभी अब वर्षा और तूफान की प्रतीक्षा कर रहे थे. मानसून से पहले आनेवाली तेज आंधियों का मौसम आ गया था. देखते-देखते सूरज छिप जाता. आकाश मटमैला हो जाता और पक्षियों के झुंड तीव्र गति से आसमान से उतरते हुए अपने घोंसलों में आसरा लेने लगते. यकायक तेज धूल उड़ने लगती और सभी खुली हुई खिड़कियों के पट जोर-जोर से टकराते हुए आवाज करने लगते. मम्मी; मयंक और भानू को कमरे के अंदर करती हुई सभी दरवाजों और खिड़कियों को बंद करते हुए इतमीनान की सांस लेती. . . लेकिन उनकी प्रत्याशा के विरुद्ध बूढ़ा अभी भी उसी जगह पूर्ववत् टिका हुआ था. एक दिन मूसलाधार पानी भी गिरा. तेज पानी की बौछारों ने छोटे-छोटे पौधों को तहस-नहस कर दिया.

वे सभी तरह-तरह की आशंकाओं और अनुमानों में जुट गये.

"आज तो वह बूढ़ा निश्चय ही वहां से चला गया होगा." मम्मी ने चाय पीते हुए कहा.

"मुझे तो नहीं लगता कि वह कभी भी यहां से जायेगा." भानू ने अपनी राय प्रकट की.

"गणेशी, जरा देखकर तो आ कि वह बूढ़ा क्या अभी भी वहां बैठा हुआ है ?" पापा ने गणेशी को आवाज लगाते हुए कहा, "गेट खोलने की जरूरत नहीं है . अंदर से ही झांककर देख लेना."

गणेशी छाता लेकर गेट की तरफ चला गया और उन सभी के साथ मयंक भी उत्सुकता से गणेशी के लौटने की प्रतीक्षा करने लगा.

गणेशी दूर से ही चिल्लाया, "साहब. . . वह अभी भी वहां बैठा हुआ है. बोरियों से उसने अपने आपको चारों ओर से ढक लिया है. . . उसका चेहरा नहीं दिखायी दे रहा."

वे सभी निराश हो आये.

"यह तो भूत की तरह हमसे चिपक गया है." मम्मी ने हताशा की सांस लेते हुए कहा.

वर्षा रुक गयी थी. धुंधले आकाश को चीरती हुए धूप आसमान में खिल उठी. मयंक और भानू तेजी से कमरे से बाहर निकल सीढ़ियां फलांगते हुए ऊपर छत पर जा पहुंचे. अपने सिर नीचे किये हुए वे मुंडेरी के नजदीक पहुंचे. उन्होंने देखा, बूढ़े ने सभी टाट की बोरियां रेलिंग से लटका दी थीं. उसकी कमीज और पैंट भी रेलिंग पर झूल रहे थे. अपने शरीर के निचले हिस्से पर उसने टाट का टुकड़ा बांध लिया था और शेष शरीर धूप में नंगा चमक रहा था.

"भानू, यह कौन है ?" मयंक ने पूछा.

भानू उसके चेहरे की तरफ देख रहा था. . . बेहद गौर से उसकी सारी क्रियाओं का अध्ययन करता हुआ, "मुझे तो यह हमेशा कुछ बुदबुदाता-सा लगता है. जरूर यह कोई मंत्र पढ़ रहा है. . . तुमने ध्यान से नहीं देखा. वह हमारी तरफ घास के तिनके भी उखाड़-उखाड़कर फेंक रहा है. पापा से अभी परसों ही तो खूब झगड़ा हुआ है. वह पापा को धमकियां दे रहा था. यह शायद पापा को मंत्रों से मारना चाहता है." भानू ने चिंतित आवाज में कहा.

मयंक भानू की बात सुनते ही डर गया. उसे याद आया परसों जब पापा वापस लौट रहे थे तो यह बूढ़ा उनकी कार के आगे आकर खड़ा हो गया. पापा ने खूब हार्न बजाये और जोर-जोर से डांटते हुए हटने को कहा लेकिन वह अपनी जगह से एक इंच भी नहीं हटा. पापा को कार का इंजन बंद करते हुए नीचे उतरना पड़ा था. भानू उस दिन पापा के साथ ही था. उसी ने बाद में मयंक को विस्तार से सारी बातें बतायी थी.

"बूढ़ा सिर्फ एक ही बात की रट लगा रहा था कि आपको कार से उतरकर मेरी बातें सुननी होंगी." भानू ने मयंक को बताया, "पापा के पीछे-पीछे मैं भी चलता हुआ बूढ़े के पास गया. बूढ़ा बेशर्मी से हंस रहा था. पापा उसे उसकी बदतमीजी पर डांट रहे थे लेकिन उस पर कोई असर नहीं पड़ा. मैंने इतने पास से उसे पहली बार देखा. उसकी आंखें लाल और बेहद डरावनी थीं."

"आपकी इस कोठी में ढेर सारे कमरे हैं. . . जबकि रहनेवालों की संख्या सिर्फ चार है." बूढ़ा दबंग आवाज में बोला.

"तुम्हें इससे मतलब. . . !" पापा चिल्लाये.

"हमें आप सड़क की तरफ खुलनेवाला एक कमरा खुलवा दीजिए." बूढ़ा पापा के एकदम पास चला आया था.

"तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है ? क्या हमारे बंगले को अनाथालय समझ लिया है ?. . . चलो. . . रास्ता छोड़ो." पापा गुस्से से कांपने लगे थे. भानू ने मयंक से कहा, "मैं तो बिल्कुल डर गया था कि कहीं पापा उस बूढ़े की पिटायी करना शुरू न कर दें किंतु बूढ़ा बेशर्मी के साथ उसी जगह अड़ा रहा. वे सब बच्चे भी जिन्हें वह पढ़ाता है हमारे चारों ओर जमा हो गये थे. भंगियों की बस्ती तक भी आवाजें पहुंचने लगी थी."

"मुझे अपने लिए नहीं, इन बच्चों के लिए कमरा चाहिए. इन्हें पढ़ाने के लिए. जब बारिश होती है तो इन्हें यहां पढ़ाया नहीं जा सकता. आपको एक कमरा देना ही होगा." बूढ़े का साथ अब बच्चे भी देने लगे थे.

● अशोक अग्रवाल

"बहुत गुंडागर्दी मचा रखी है. एक दिन में सारी हैकड़ी निकलवा दूंगा!" पापा वापस लौट लिये थे. बूढ़ा अब रास्ते से हट गया था लेकिन जब हमारी कार गेट के भीतर जा रही थी तो मैंने पीछे मुड़कर देखा तो बूढ़ा उसी तरह लगातार हमारी तरफ घूर रहा था. उस वक्त उसके हाथ में घास के तिनके थे जिन्हें वह फूंक मारता हुआ हमारी तरफ उड़ा रहा था." भानू ने रुकते हुए और चारों तरफ चौकन्नी निगाहों से देखने के बाद मयंक को बताया, "पापा आज फैक्टरी जाते हुए मम्मी से कह रहे थे कि वह आज थाने जाकर रिपोर्ट लिखवायेंगे. पुलिस इसकी अक्ल एक ही दिन में ठिकाने लगा देगी!"

मयंक कमरे में अकेला था. भानू फिर साइकिल के साथ व्यस्त हो गया था. उसने देखा चिड़िया पहले ही तरह तिनके ला रही थी... जैसे उसके साथ अभी कुछ क्षण पहले कोई दुर्घटना घटित ही नहीं हुई थी. 'क्या वह बूढ़ा अभी भी उसी तरह बैठा हुआ हमारी तरफ ही देख रहा होगा?' मयंक के मस्तिष्क में सिर्फ एक यही विचार उमड़-घुमड़ रहा था. वह सिर्फ खिड़की को थोड़-सा खोलेगा और झांक कर चुपके से देखेगा. खिड़की के पास पहुंच चिटखिनी नीचे गिराते हुए वह कई बार झिझका. उसने धीरे-से पट खिसकाया लेकिन उसे कुछ दिखायी नहीं दिया. उसने पट को थोड़ा और फैलाया . . . बस इससे अधिक नहीं. मयंक ने देखा, उसकी दिशा में बूढ़े का चेहरा नहीं पीठ थी और उसकी पीठ पर एक छोटी बच्ची चढ़ी हुई थी. पांच-छह बच्चे गोल घेरा बनाते हुए उसे घेरे हुए बैठे थे. उसे बच्चों के खिलखिलाने की आवाज आयी. मयंक के भीतर छिपा भय धीरे-धीरे बाहर निकलने लगा. उसने खिड़की पूरी खोल दी. वह ध्यान से उनकी क्रियाओं को देखने लगा. उसने देखा बूढ़े के हाथ में एक सलेट थी जिस पर वह जल्दी-जल्दी हाथ में पकड़े चाक को घुमा रहा था. मयंक के मन में उत्सुकता उठ खड़ी हुई कि बूढ़ा सलेट पर क्या लिख रहा है, क्योंकि बच्चे सलेट पर झुके हुए खुशी से किलकारियां भर रहे थे. उसी वक्त एक बच्चे ने उसकी तरफ इशारा करते हुए बूढ़े से कुछ कहा. मयंक का मन हुआ कि वह तेजी से खिड़की बंद कर दे लेकिन वह पकड़ायी में आ चुका था. बूढ़ा उठकर उसकी तरफ आने लगा. मयंक के भीतर कोई भय धीरे-धीरे पनपने लगा, कहीं वह उसे . . . बूढ़ा तब तक पास आते हुए खिड़की से सटकर खड़ा हो गया था. बढ़ा मुस्करा रहा था. मयंक ने डरते हुए बूढ़े की आंखों की तरफ देखा, लेकिन उसे वे कहीं से भी डरावनी और लाल नजर नहीं आयीं. बूढ़े की आंखें हंसती हुई सिर्फ चमक रही थीं.

"क्या तुम्हें मुझसे डर लगता है?" बूढ़ा हंसा और सलेट को उसकी तरफ बढ़ा दिया. मयंक ने देखा सलेट पर एक जोकर साइकिल चला रहा था. जोकर के सिर के दोनों तरफ बड़े-बड़े सींग बने थे जिनसे बंधे हुए गुब्बारे आकाश में उड़ रहे थे. मयंक को जोकर देख आनंद आ गया.

"तुम्हारी तबीयत अब कैसी है? कब तक चलने-फिरने लगोगे?" बूढ़े ने अपना बायां हाथ जिसकी अंगुलियों में एक लाल चाक फंसा था, खिड़की की सलाख से टिका दिया.

"आपको कैसे मालूम?" मयंक को आश्चर्य हुआ.

"यहां बैठे-बैठे मुझे सबके बारे में पता रहता है." बूढ़े ने पार्क के कोने की तरफ इशारा करते हुए कहा, "तुम्हारा भाई इस वक्त साइकिल चला रहा होगा. मम्मी बाजार और पापा फैक्टरी गये हुए हैं. गणेशी क्यारियों में पानी दे रहा होगा. तुम यहां अकेले लेटे हो . . . तुम्हारे कूल्हे की हड्डी टूट गयी है और डाक्टर ने तुम्हें उठने तक को मना किया हुआ है."

मयंक एक बार फिर आतंक से घिर गया. यह बूढ़ा सचमुच कोई भेदिया तो नहीं है जो उनका सारा रहस्य बटोर रहा है और एक दिन उन्हें लूटकर चल देगा?

इसी बीच बूढ़े ने उसके देखते-देखते उस जोकर को हाथ से मिटाते हुए एक शेर बना दिया था जिसकी पीठ पर चिड़िया बैठी थी.

"क्या तुम चिड़िया बनाना जानते हो?" बूढ़े ने सिर नीचे किये हुए ही उससे पूछा. वह अब हाथी को मिटाकर एक पेड़ बना रहा था. ढेर सारी पत्तियां और शाखाएं देखते-देखते उस स्लेट पर उभर आयीं. वह अब दो शाखों के बीच जल्दी-जल्दी चाक चला रहा था. मयंक ने देखा वहां अब एक घोंसले ने जन्म ले लिया था.

"क्या तुम जानते हो कि चिड़िया पेड़ पर अपना घोंसला क्यों बनाती है?" बूढ़ा लगातार मुस्करा रहा था.

मयंक ने नहीं में गर्दन हिला दी.

"सांप चिड़िया के अंडों को कैसे खा जाता है?" बूढ़े ने पूछा. मयंक चुप रहा.

"गिरगिट कितने रंग बदल सकता है?" बूढ़ा मुस्कराया, "ये बच्चे तुम्हें सब बता सकते हैं. यह भी कि जब पानी गिरता है तो हमेशा इन्हीं के घर क्यों चूने लगते हैं? आग हमेशा इन्हीं की झोंपड़ियों में क्यों लगती है?"

बूढ़े की सभी बातें रहस्यमयी और उलझन भरी होने के बावजूद उसे पहले की तरह अब डर नहीं लग रहा था. बूढ़े की दाढ़ी के घने, लंबे सफेद बाल हवा में हिल रहे थे. मयंक की इच्छा हुई वह उन्हें छूकर देखे. समुद्र की सतह पर उमड़ आये सफेद फेन की तरह वह चमकीली धूप में झिलमिला रही थी.

"तुम्हारे पास क्या कोई कमरा नहीं है?" मयंक ने झिझकते हुए पूछा.

बूढ़ा ठहाका लगाता हुआ हंसा, "मेरा कमरा बहुत विशाल है. तुम रात-दिन बरसों तक बिना थके साइकिल चलाते रहो तब भी उसकी एक दीवार तक को नहीं छू सकते. उसकी छत पर असंख्य तारे, चंद्रमा, सूरज और बादल लटके हैं. सारी नदियां और समुद्र उसी के अंदर बहते हैं. मेरे कमरे में इतने सारे पेड़, पहाड़ और पक्षी हैं कि तुम उनकी कभी गिनती नहीं कर सकते." बूढ़ा एक क्षण के लिए ठिठका फिर धीरे-से फुसफुसाया, "तुम्हारी यह कोठी भी मेरे कमरे में ही समायी हुई है."

बूढ़े की और बातों की तरह यह बात भी मयंक को रहस्यमयी किंतु दिलचस्प लगी. सहसा उसे लगा कि उसके पैर बुरी तरह थक चले हैं. इतने दिनों बाद वह पहली बार इतनी देर तक खड़ा हुआ किसी से बातें करता रहा था. डाक्टर ने उसे सिर्फ टायलेट तक जाने की अनुमति दी थी.

बूढ़े का चेहरा सहसा चिंतित हो आया, "तुम्हारा रंग कितना पीला पड़ गया है. तुम्हें अब आराम करना चाहिए. कल दोपहरी में हम फिर मजेदार बातें करेंगे."

बूढ़े ने खिड़की की सलाखों से अपना हाथ हटा लिया. मयंक खिड़की बंद कर ही रहा था कि उसे दूर जाते बूढ़े की आवाज सुनायी दी, ". . . अब तो तुम्हें मुझसे डर नहीं लगेगा."

उत्तर में मयंक के चेहरे पर सिर्फ एक मुस्कराहट उभर आयी.

मयंक ने लेटे-लेटे घंटे की तरफ देखा. दस बज रहे थे और गणेशी अभी तक वापस नहीं लौटा था. मम्मी, पापा, भानू और वह सभी एक कमरे में जुट आये थे. यह उन सभी के सोने का वक्त था जिसे वह जागते हुए बिता [illegible] थे.

"मुझे तो अब नहीं लगता कि गणेशी वापस लौटेगा." मम्मी ने फिर वही वाक्य दोहराया जिसे वह पिछले एक घंटे से न जाने कितनी बार कह चुकी थीं.

गणेशी ठीक छह बजे बाजार के लिए निकला था और अभी तक वापस नहीं लौटा था. आठ बजे तक तो सिवाय झुंझलाहट के कोई अन्य भाव उनके भीतर उत्पन्न नहीं हुआ था. सभी आशा लगाये थे कि गणेशी कहीं गपशप में अटक गया होगा. नौ बजते-बजते झुंझलाहट ने चिंता का रूप ग्रहण कर लिया था जो दस बजने तक एक अदृश्य भय में बदल गया.

"गणेशी को कल ही जवाब दे देना. हमें उसकी कोई जरूरत नहीं." पापा गुस्से में चिल्लाये.

"पहले वह वापस तो लौटे, पता नहीं वह कहां गायब हो गया! सुनो, कहीं ऐसा तो नहीं कि वह अब वापस ही नहीं लौटे?"

"तुमने गणेशी का पता नोट किया है?" पापा ने मम्मी की ओर देखते हुए सिगरेट जलायी.

"बिहार के किसी गांव का है. लेकिन क्या पता उसने अपने गांव का नाम सही ही बताया हो."

"उसे तुम ही पकड़कर लायी थीं. उसके बारे में अच्छी तरह मालूमात तो कर लेनी थी." पापा ने अपनी जलती सिगरेट बीच में ही ऐशट्रे में मसल दी.

"मुझे तो वह काफी सीधा लगा था. उसने बताया था कि वह एक नर्सरी में भी काम कर चुका है तो मैंने सोचा कि खाली समय में यहां भी पौधों और पेड़ों की अच्छी तरह देखभाल कर लेगा." मम्मी की आवाज में पछतावा था.

"किसी सड़क छाप पर एकदम विश्वास नहीं कर लेना चाहिए. आये दिन अखबारों में इन घरेलू नौकरों के बारे में छपता रहता है. . . . कल वह वापस लौटे तो सबसे पहला काम उसका फोटो खिंचवाने का करना है. हमें थाने में भी उसकी सारी जानकारी दे देनी चाहिए." पापा ने अपनी दूसरी सिगरेट सुलगा ली थी.

मयंक ने देखा ग्यारह बज रहे थे और गणेशी वापस नहीं लौटा था. मम्मी और पापा के साथ-साथ वे दोनों भी जाग रहे थे.

"तुमने कभी उसके सामने सेफ तो नहीं खोली? तुम हमेशा यह लापरवाही करती हो. तुम्हें कितनी बार समझाया है कि जब भी कोई आदमी तुमसे पचास रुपये भी मांगे तो उसे उस दिन कभी भी मत पकड़ाओ. उसे टाल दो कि इतने रुपये क्या कोई घर में रखता है? कल बैंक से लाकर देंगे." पापा; मम्मी को समझा रहे थे.

"हमें गेट की और लॉन की सारी लाइट ऑन कर देनी चाहिए." कुछ देर की खामोशी के बाद मम्मी ने कहा.

"कहीं ऐसा तो नहीं पापा कि गणेशी भी उस बूढ़े से मिला हुआ हो?" भानू ने बहुत देर बाद अपनी आशंका प्रकट की.

"हमने अभी तक गणेशी का कमरा तो देखा ही नहीं. क्या मालूम वह अपना सारा सामान भी लेकर चंपत हो गया हो." मम्मी ने खिड़की से बाहर झांकते हुए कहा.

"तुम टॉर्च लेकर आओ." पापा ने निर्देश दिया और उठकर खड़े हो गये.

मम्मी, पापा और भानू कमरे से बाहर निकलते हुए बरामदे में पहुंच गये. कुछ देर वे तीनों वहीं ठहरे रहे फिर लॉन में बनी क्यारियों की तरफ बढ़ गये. मयंक बिस्तर से उठकर बाहर आ गया और बरामदे की दीवार का सहारा ले उनकी तरफ देखने लगा जो धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए क्यारियों के इर्दगिर्द के बल्बों के स्विच ऑन करते जा रहे थे. विशाल मैदान के चारों तरफ बिखरे छोटे-छोटे पौधे, बरगद के दोनों पेड़ों के निचले हिस्से तथा सभी बरामदे रोशनी में नहा उठे. मयंक ने देखा, वे अब गणेशी की कोठरी के आगे खड़े थे. पापा ने आगे बढ़कर सांकल खोली और मम्मी टार्च उठाये सतर्क खड़ी थी और उनके पीछे-पीछे भानू. पापा थोड़ी ही देर बाद बाहर आ गये थे. वे तीनों अब गेट की तरफ बढ़ रहे थे. पापा गेट की दरारों से झांककर बाहर की तरफ देख रहे थे. निश्चय ही वह बूढ़े की ओर देख रहे होंगे. क्या बूढ़ा अभी जाग रहा होगा? वह इस वक्त क्या कर रहा होगा?

तीनों वापस लौट रहे थे. मयंक चुपचाप अपने बिस्तर पर चला आया.

"गणेशी का सारा सामान तो कोठरी में रखा हुआ है." पापा की आवाज उलझन भरी थी.

"सामान के नाम पर उसके पास है ही क्या? एक पुराना स्टोव, दो-चार बर्तन और कपड़े. . . . उन्हें ले जाते यदि कोई देख लेता तो वह पकड़ा नहीं जाता?" मम्मी ने पापा को समझाया.

"बूढ़ा तो अपनी जगह सो रहा था." भानू बोला.

"उसके गायब हो जाने से हम सावधान नहीं हो जाते? मुझे तो गणेशी इससे मिला हुआ लगता है. . . . वह वापस लौट भी आये तो भी अब उसे यहां बिल्कुल नहीं रखा जा सकता." मम्मी ने अपना फाइनल निर्णय सुनाया.

"कल तो मैं फैक्टरी से दो नये आदमी भेज दूंगा. वे रात में भी यहीं पहरा देंगे." पापा बोले.

"हमारे यहां शिकारी कुत्ते होने चाहिए." भानू ने अपनी राय दी.

"भानू ठीक कह रहा है. शिकारी कुत्तों के यहां रहते कोई चार-दीवारी फलांगने की हिम्मत ही नहीं कर सकेगा." मम्मी ने भानू की प्रशंसा की.

"तुम सोते क्यों नहीं हो? कब तक जागते रहोगे?" पापा ने मयंक को झिड़का.

मयंक ने घंटे की तरफ देखा. साढ़े बारह बजनेवाले थे. गणेशी अभी तक नहीं आया था.

तभी फोन की घंटी बज उठी घर्र . . . घर्र. . .घर्र. घंटी की आवाज, ने उन सभी को चौंका दिया. कुछ देर सभी सशंकित से फोन की तरफ देखते रहे फिर पापा ने अपना हाथ फोन की तरफ बढ़ाया.

मयंक ने देखा पापा का चेहरा जो फोन उठाने तक संशय और उलझन से घिरा हुआ था धीरे-धीरे सहज होने लगा. वह सिर्फ छोटे-छोटे शब्द बोल रहे थे जिनका कोई भी अर्थ मयंक समझ नहीं पा रहा था. कुछ ही देर बाद पापा के चेहरे पर वही चमक लौट आयी थी जो फैक्टरी जाते समय होती थी. उन सभी ने सिर्फ अंतिम वाक्य अच्छी तरह सुना . . . "मैं सुबह फैक्टरी जाते वक्त उसे देखने जाऊंगा.". . . कहते हुए उन्होंने चोंगा नीचे रख दिया था.

पापा के चेहरे पर पूर्ण निश्चितता लौट आयी थी. "हम पता नहीं क्या-क्या सोचते रहे. सिविल अस्पताल से फोन आया था. . . . कुछ नहीं . . . गणेशी वहां पड़ा हुआ है. एक स्कूटर से उसका एक्सीडेंट हो गया है. टांग और हाथों में चोट आयी है." पापा अब मुस्करा रहे थे.

"उफ . . .!" मम्मी ने राहत की सांस ली, "अच्छा हुआ यह फोन आ गया. नहीं तो मैं पूरी रात सो ही नहीं पाती."

"हम बेकार डर रहे थे. यहां अंदर कदम रखने की कोई हिम्मत ही नहीं कर सकता. सिर्फ सौ कदम की दूरी पर ही तो थाना है और पीछे की तरफ आर्मी मैस है. . . . चलो अब सोया जाये. सुबह हास्पीटल भी जाना होगा." पापा जमुहाइयां लेने लग थे.

घंटा इस वक्त एक बजा रहा था.

"एक चिड़िया पेड़ से नीचे उतरी, चोंच में दाना दबाया और दूसरी चिड़िया नीचे उतरी, चोंच में दाना दबाया और"

बूढ़ा खिड़की की सलाखों के पार खड़ा मयंक को कहानी सुना रहा था, हाथ और मुंह से अभिनय करता हुआ. भानू आज पापा के साथ ही फैक्टरी चला गया था. पापा ने फैक्टरी से दो मजदूर सुबह ही यहां भेज दिये थे जो गणेशी के स्थान पर काम कर रहे थे. मम्मी दोपहर का भोजन करने के बाद अपने कमरे में आराम कर रही थीं

लेखक और समीक्षक की प्रतियोगिता

■ मुक्तिबोध

वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के द्वारा ही हम यह जान लेते हैं कि प्रत्येक परिस्थिति की सर्वसामान्यता और निजी विशेषता कौन-सी है और किस प्रकार अलग-अलग व्यक्तियों पर उसका भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है. परिस्थिति की सर्वसामान्यता के कारण, प्रभाव में भी सामान्यता है, किंतु व्यक्तियों की भिन्नता के कारण ही प्रभावों की विशेषता है.

सारांश यह कि वास्तविक जीवन के संवेदनात्मक धरातल पर लेखक और समीक्षक की होड़ है. लेखक और समीक्षक की यह प्रतियोगिता निःसंदेह अत्यंत वांछनीय है. जिंदगी को कौन ज्यादा समझता है? समीक्षक या लेखक? यद्यपि इन दो के कर्तव्य अलग-अलग हैं, फिर भी उनके कर्तव्यों की पूर्ति जीवन के वास्तविक संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर ही होगी. यदि साहित्य का उद्घाटन है, तो समीक्षक को तो यह जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तविक जीवन है या नहीं. असल में, कसौटी वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान ही है, जो न केवल लेखक और समीक्षक में होता है, वरन् पाठक में भी रहता है. वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति किसी की बपौती नहीं है. इसी समीक्षा-शक्ति के सहारे बड़े-बड़े व्यक्तियों का निर्माण होता है. □

और मयंक दर्द के बावजूद यहां चला आया था.

"तीसरी चिड़िया नीचे उतरी, चोंच में दाना दबाया और फुर्रर . . ." बूढ़े ने चिड़िया के उड़ने का अभिनय किया.

"यह कहानी नहीं . . . यह मुझे आती है." मयंक बूढ़े के अभिनय पर खुलकर हंस रहा था.

"तुमने कभी यह सोचा कि गेहूं के वे दाने समाप्त क्यों नहीं हुए जबकि हर चीज एक न एक दिन अवश्य ही समाप्त होती है." बूढ़े ने गंभीरता से पूछा.

मयंक उलझन में पड़ गया.

"इसका रहस्य तुम्हें मैं बताता हूं." बूढ़ा हंसा, "दरअसल, उस खलिहान का जमींदार अच्छी तरह जानता था कि चिड़ियां उन दानों को लेकर आखिरकार कहां जायेंगी? अपने घोंसलों में ही न . . .? उसे सभी चिड़ियों के घोंसलों की पूरी जानकारी थी. वह दिन भर चिड़ियों को दाने ले जाने देता और रात होते ही अपने गुमाश्तों की फौज से उन सभी घोंसलों के भीतर से दानों को उठवा लेता. उन दानों को भी जिन्हें चिड़ियां दूसरी जगहों से बीनकर लाती थीं."

"अच्छा, अब तुम्हें दूसरी मजेदार कहानी सुनाता हूं. सात बौनों और राजकुमारी की." बूढ़ा बोला.

"यह कहानी तो मुझे आती है. कोई ऐसी कहानी सुनाओ जो मुझे न आती हो." मयंक ने कहा और उसने देखा कि बूढ़ा उसकी बात से उलझन में पड़ गया है.

"यह कहानी तुमने पहले कभी नहीं सुनी होगी . . . ." बूढ़ा अभी शुरू ही हुआ था कि मयंक को अपने पीछे कदमों की आहट सुनायी दी. उसने पीछे मुड़कर देखा, मम्मी उसी तरफ चली आ रही थीं. वह तेजी से पी[illegible] खिसकता हुआ पलंग की तरफ लपका.

"यह खिड़की तुमने क्यों खोल रखी है? तुम्हें कितनी बार मना

किया गया है." कहते हुए उन्होंने खिड़की के पटों को भड़भड़ाते हुए बंद करना शुरू कर दिया.

मयंक की आंखें अचानक खुली. उसने देखा, पापा तेज आवाज में चिल्ला रहे थे. मम्मी, भानू और दोनों नये मजदूर उनके पास खड़े थे.

"हद हो गयी . . . . तुम में से किसी ने नहीं देखा और कोई पूरे गेट के रंग को जगह-जगह से खुरच गया है. नेम-प्लेट तक उखाड़ दी है. मोर की पूंछ पर काला रंग पोत दिया है. . . . मैं अब चुपचाप नहीं बैठूंगा. यह कमीनी हरकत किसकी है. मैं अच्छी तरह जानता हूं. मैं अभी पुलिस को फोन करके बुलाता हूं."

मयंक ने पापा को इतने गुस्से में इससे पहले कभी नहीं देखा था. इतना बड़ा कांड हो गया और उसे पता ही नहीं चला. क्या उस वक्त वह सो रहा था?

"जरूर यह इसी बूढ़े की शैतानी है." मम्मी कह रही थी.

"मम्मी, वह अभी भी उसी जगह पर बैठा हुआ हमारी तरफ ही देख रहा है." भानू गेट से वापस लौटा था.

"तुम क्या यहां मटरगश्ती करने के लिए रखे गये हो हरामखोरो?" पापा अब उन नये मजदूरों को डांट रहे थे.

"पता नहीं, यह राक्षस हमारे पीछे ही क्यों पड़ गया है?" मम्मी चिंतित आवाज में बोल रही थी, "पूरी भंगी बस्ती को भी इसने बरगला दिया है."

"कल से इसकी परछाई भी यहां नजर नहीं आयेगी."

मयंक ने देखा, पापा अपनी कार में बैठ गेट की तरफ बढ़ रहे थे.

मयंक को आश्चर्य हुआ जब उसने पाया आज पापा फैक्टरी जाने की कोई तैयारी ही नहीं कर रहे हैं. नाइट गाउन अभी भी उनके शरीर पर था. इतमीनान से वह चाय का तीसरा प्याला पी रहे थे.

"भानू, कैरम बोर्ड उठा लाओ." मयंक को पापा की आवाज सुनायी दी. . . . तो आज पापा फैक्टरी नहीं जा रहे हैं. मयंक प्रसन्न हो उठा. आज पूरा दिन मजेदार रहेगा.

काफी देर तक वे तीनों कैरम खेलते रहे. मयंक को लगा, पापा पूरी रुचि के साथ कैरम नहीं खेल पा रहे हैं. उनका मन जैसे कहीं अटका हुआ है. वह बार-बार मुड़कर गेट की तरफ देखते जैसे कोई आवाज सुनने की कोशिश कर रहे हैं.

मम्मी, पापा को इशारे से अपनी तरफ बुला रही थीं. मयंक ने देखा, पापा खेल को अधूरा छोड़ तेजी से उठे और अब वे फुसफुसाते हुए बातें कर रहे थे जिन्हें वह सुन नहीं पा रहा था.

पापा और मम्मी तेजी से उस कमरे की तरफ लपक रहे थे जिसमें दिन भर मयंक लेटा रहा करता था. भानू भी उठता हुआ उनके पीछे-पीछे भाग निकला. मयंक को लगा निश्चय ही आज कोई विशेष बात हो रही है. वह भी उसी दिशा में चल दिया.

मयंक जब वहां पहुंचा तो उसने देखा पापा; मम्मी और भानू खिड़की से बाहर की तरफ झांक रहे थे. मयंक ने भानू और मम्मी के बीच अपनी जगह बनाते हुए जैसे ही सलाखों के पार झांका. वह स्तब्ध रह गया.

बूढ़े को एक सिपाही रेलिंग से नीचे खींचने की कोशिश कर रहा था और वह रेलिंग से चुंबक की तरह चिपका हुआ जोर-जोर से बोल रहा था. दूसरा सिपाही उसके पास ही खड़ा डंडा दिखाता हुआ हंस रहा था.

सिपाही के माथे पर पसीना आ गया था. लेकिन बूढ़े का हाथ रेलिंग से खिसकता ही न था. दूसरा सिपाही पहले सिपाही की खिल्ली उड़ाने लगा था. पहले सिपाही का चेहरा एकदम तन गया, "ऐसे नहीं मानेगा यह हरामजादा!" कहने के साथ उसने रेलिंग से चिपकी बूढ़े की अंगुलियों पर हवा में लहराते हुए डंडे को बिजली की गति से पटक दिया. बूढ़े के मुंह से एक तेज चीख निकली और वह भरभराता हुआ पार्क के अंदर ही उलट गया.

दूसरे सिपाही ने डंडे की नोक से रेलिंग पर अटके टाट के टुकड़े को उठाया और उस तरफ उछाल दिया जिधर दो-चार राहचलतों ने जुटना शुरू कर दिया था. टाट के उछलने के साथ ही बूढ़ा गेंद की तरह तेजी से हवा में गोता लगाता हुआ सिपाही के डंडे के ऊपर जा गिरा था. सिपाही का पैर उसके बोझ से उखड़ गया. बूढ़ा अब गंदी-गंदी गालियां बक रहा था.

दूसरे सिपाही का हंसना भी अब रुक गया था. दोनों अब एक साथ बूढ़े की तरफ लपके और उसे खींचते हुए पार्क से उठाकर बाहर सड़क पर फेंक दिया. दोनों अब टाट की बोरियों को डंडों की नोंक पर उठाते हुए चारों तरफ उछालने लगे जहां दो-चार लोगों का जमघटा अब अच्छी खासी भीड़ में तबदील हो चुका था.

एक सिपाही के हाथ में बूढ़े का खाकी थैला आ गया था. उसने एक बार उसके भीतर झांकते हुए उसे वहीं उलट दिया. मुड़े-तुड़े कागजों का ढेर हवा में लहराता हुआ छोटी-छोटी चिंदियों में बदलने लगा. झन्नाक की आवाज के साथ एल्यूमिनियम का एक छोटा लोटा सड़क पर जा गिरा. दूसरा सिपाही अपने जूते के नीचे उसे दबाता हुआ हिलने-डुलने लगा. फिर उसने तेजी से ठोकर मारते हुए दूसरे सिपाही की तरफ उछाला. लुढ़कता हुआ वह दूसरे के पास पहुंचा ही था कि उसने उसकी गति के रुकने से पहले ही अपने जूते की टो से उसे फिर पहले की तरफ लुढ़का दिया. लोटा उनके लिए फुटबाल बन गयी थी जिसे वे बारी-बारी से एक-दूसरे की ओर उछाल रहे थे. दोनों कुछ देर के लिए बूढ़े को भूल गये थे, जो अब पार्क के नीचे रेलिंग को पकड़े हुए खामोश गर्दन झुकाये उन सभी की उपस्थिति से अनभिज्ञ कभी-कभी हवा में उंगलियां लहरा रहा था जैसे उन बिखरी हुई वस्तुओं को वह वापस अपने पास बुलाने की चेष्टा कर रहा हो.

लोटा धीरे-धीरे असंख्य गड्ढों में पिचकता हुआ अपनी लचक और गति को खो चुका था या वे दोनों अपने इस खेल से ऊब चले थे. दोनों फिर बूढ़े की ओर बढ़ने लगे.

मयंक को लगा उसकी टांगों से कोई भारी बोझा बांध दिया गया है. वह धीरे-से पीछे हटता हुआ अपने पलंग तक चला आया. वह पता नहीं कितनी देर तक ऐसे ही कांपता-थरथराता लेटा रहा. मम्मी, पापा और भानू अभी भी खिड़की से चिपके हुए थे.

मयंक ने खिड़की के बंद होने की आवाज सुनी. बाहर का शोर अब थम गया था. तीनों उसके पास चले आये थे.

"इस शैतान से तो मुक्ति मिली." पापा के स्वर में निश्चितता थी.

"कहीं सिपाही उसे छोड़ तो नहीं देंगे? यदि उसे पता लग गया कि यह हमारा काम है तो वह. . ." मम्मी की आवाज में कोई दुश्चिंता फिर उभरने लगी थी.

"वह यहां तो क्या अब इस शहर में भी कभी दिखायी नहीं देगा. मैंने सिपाहियों को अच्छी तरह समझा दिया है. वे इसे अच्छी तरह सबक सिखाने के बाद किसी चलती ट्रेन में ठूंस देंगे." पापा की आवाज में पूर्ण लापरवाही थी.

"मुझे तो अभी भी डर लग रहा है. . .भानू और मयंक के स्कूल खुलनेवाले हैं. अब तुम्हें इन्हें स्कूल तक पहुंचाने जाना पड़ा करेगा." मम्मी मयंक के पास चली आयीं. उन्होंने देखा, मयंक का पूरा चेहरा पीला पड़ गया है. वह तेजी से चिल्लायीं, "इधर आओ...पता नहीं इसे क्या हो गया है!"

"कुछ नहीं....डर गया होगा." पापा बाहर निकल रहे थे.

मम्मी उठ ही रही थीं कि मयंक ने धीरे-से उनका हाथ पकड़ा, "मैं अब यहां नहीं लेटूंगा."

कमरे से बाहर आते हुए मयंक ने झुककर छत की तरफ देखा, चिड़िया कहीं नहीं थी. भानू बरामदे के चारों ओर अपनी लाल साइकिल दौड़ा रहा था. □

● द्वारा : संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़–245101

राख

सूर्यबाला

आस्था बनाये रखने के लिए आप किसी भी चीज का सहारा ले सकते हैं, चाहे वह हनुमानगढ़ी के मंदिर के बाबाजी द्वारा दी जाने वाली राख ही क्यों न हो. पर कभी ऐसा भी होता है कि जो राख आस्था बनाती है, वही उसे तड़ाक से तोड़ भी देती है.

अरे, आ गया . . . आ गया . . . ये देखो न सरकंडों की बाड़ोंवाला अहाता और लखौरी ईंटोंवाला अहाते का फाटक. ध्यान से देखो, सफेद चूनाकली के बीच गेरू से लिखा भी तो है—श्री रामलला मंदिर, हनुमान गढ़ी . . सन्नो! रेवा! रुकवा लो रिक्शा! चल्लो, नीनावाला रिक्शा तो चला ही जा रहा है, नीना की बच्ची! रुकवा न रिक्शा. देख, ये क्या न रहा फाटक! इन्हें कुछ याद भी कहां से होगा? छुटकी-सी तो थी जब बप्पा का तबादला हो गया था यहां से, तब तो इक्के पर भी सईस के कंधों पर लदी आतीं और कंधों पर ही लदी जातीं, इतनी हिली थी उससे. और ज्यादा करके तो इक्के पर हचरहट्ट करते गढ़ी का फाटक आते-आते सो गयी होतीं, आटे की लोंदे-पोंदे-सी गोल-मटोल नीना जी.

रिक्शेवाले! रुकना भइया, यही कोई आधेक घंटे. ज्यादा टाइम कहां से लेंगे? हमें खुद ही जल्दी है, सुना नहीं, आते-आते बकुल दद्दा और नकुल दद्दा ने कितनी हिदायतें दी थीं—

ये सारी की सारी लेडीज हवाखोरी पर निकल रही हैं और मुंडन की तैयारी कौन करेगा, हम मर्द लोग? अरे हमें तो शहनाई-शामियाने और कोफ्ते-कटहल से ही फुर्सत नहीं है और अंदर भी सिर्फ भाभियां अकेली कहां तक संभालेंगी? एं? ऊपर से तुम लोग बुआ को भी अपने साथ लिये जा रही हो! कम से कम बुआ ही रहतीं तो जरा रीति-रस्म बतातीं, समझातीं न!

बकुल दद्दा के सामने जबान कहां खुलती है! संकोच से कहना पड़ा कि दद्दा! इस रज्ज-गज्ज को छोड़कर भला हवाखोरी किसे भायेगी?—ये तो जरा हम सब हनुमान गढ़ी पर मत्था टेकने जा रहे हैं, बरसों से चाह थी; नहीं तो अम्मा, न देहरी के बाहर कदम रखतीं, न हमें रखने देतीं.

फिर भी दद्दा कहां माने थे? अरे बुआ, आप अब भी उतर आइये रिक्शे से; डेढ़ मील तक की कच्ची सड़क तो खाई-खंदक से भी गयी-गुजरी है, थककर चूर हो जायेंगी आप, जाने-आने में ही. फिर वो पहले वाले बाबा जी तो हैं नहीं; और वर्तमान बाबाजी तो शाम को दावत में आयेंगे ही. आसपास के सभी मठों, मंदिरों में न्योता भिजवा दिया है, दावत का.

अम्मा ने दद्दा के सिर पे हाथ फेरकर बलैय्या ली कि बेटा, क्या मालूम, इस जिंदगी अब इस देहरी पर फिर भी आ पाऊंगी या नहीं. आंखों का झलझला जो है, सो तो है ही, बाय की जकड़ भी दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है. अब ये लोग हैं तो जरा पकड़, ठिका, सहारा दे देंगी, तो मैं भी गढ़ी पर मत्था टेक आऊंगी. सारा कुटुंब गढ़ी के पुण्य-प्रताप से ही फल-फूल रहा है.

हां, नजर न लगे, फला-फूला तो खूब. तीन-तीन कद्दावर बेटे और तीन-तीन बेटियां. और अब बेटियों के भी केंचे-पेंचे. कोई कहां बसा, कोई कहां. ये तो कहो कि दद्दा को सबकी सुध आयी और बेटे के बेटे के मुंडन में सारे कुटुंब परिवार को न्योत बैठे, कि फैमिली प्लानिंग की कृपा से यह इस पीढ़ी का आखिरी बच्चा है, इसके मुंडन में तो सबको पहुंचना ही है. नहीं तो एक आंगन में गुर्लल तानने और इकड़ी-दुकड़ी खेलानेवाले भाई-बहन की संतानें अब एक-दूसरे का चेहरा देखन को तरस जाती हैं.

यह अतीत की तरस होती ही ऐसी है. सोंधी मिट्टी की सुवास जैसी रचती ही चली जाती है, भिनती ही चली जाती है. अंदर-अंदर—पोर-पोर तक. तभी तो हम तरसते-तरसते यहां तक आ पहुंचे थे, अतीत की छितरी-बिखरी उन यादों को वर्तमान की अंजुरी में हलोर पाने के लिए.

तो लो, अहाते के अंदर घुसते ही पैरों के नीचे से अमराई की सूखी पत्तियों की चर्र-चर्र शुरू हो गयी. हां, वही कांस के धुंधुआते सफेद फूल, (अम्मा कहां से देखेंगी, उनकी तो आंखें ही कांस हो रही हैं.) जंगली कनेर के बन और हरे सूखे बांसों के झुरमुट. सन्नो, याद है? यहीं तो हम हरी, बैंजनी जंगली मकोइयां बीन-बीनकर खाया करते थे और वहां उस इमली के नीचे ही रेवा के कान की बाली खोयी थी न! और उस

वार की याद है जब नीना जी ने अपने एक पैर की सैंडल उतारकर हम सबके देखते-देखते कुएं में उछाल दी थी और बिना बात बप्पा ने हम सबको डांट पिलायी थी.

अब कहां बप्पा और कहां वे लिल्ली-घोड़ी लाल-लगामवाले ठाठ-बाट कि हर छठे-छमासे इक्का जुत जाता, झालरें बंध जातीं, पर्दे खिंच जाते और हम सबके सब भाग आगे-पीछे ठुंस जाते. राम खिलावन सईस घोड़ी की जीन कस, कलंगी बांध चाबुक सटकार देता. टपर-टपर . . . खटर-खटर करता, ऊंची-नीची, कच्ची-पक्की सड़कों पर खदराता इक्का, झरबेरी के टीले, बैरहिया नाला, कलेक्टर साहब का बंगला और रेलवे लाइन पार करता एकदम कच्ची हनुमान गढ़ीवाली सड़क पर धच्च से उतर जाता.

मंदिर का सफेद गुंबद देखते ही हममें उतावली मच जाती. राम खिलावन डांटता रह जाता और हम सब इक्के से कूद यहां-वहां गुलमेंहदी के चिटकते फूलों से बिखर जाते. अहाते में बिछी सूखी पत्तियों को जान-बूझकर अपनी-अपनी चप्पलों से चुरचुराते चलते और बीच-बीच में जहां कनेर के पीले फूल या जंगली मकोय दिखती, चिल्ल-पों करते, इकट्ठे टूट पड़ते . . . अम्मा, नानी मुंह से उंगली दिखा, हिस्श-हुस्श करती चलतीं—चुप्प-चुप्प. शांत . . . मंदिर का मुख्य आहाता आ गया . . . खबरदार जो जबान खुली. सबसे पहले बाबा जी के पास—इस पर हम बच्चों में भी हिस्श-हुस्श मच जाती. ये, यहां चप्पलें उतारो. अब चलो हाथ-पैर धो लो. बस अब चुपचाप बाबा जी के चौबारे पर . . . वो बैठे तो हैं बाबाजी . . एकदम दुबले, इकहरे, ताम्रवर्णी काया और सिर पर अपार जटा-जूट ललाट पर लाल-पीला वैष्णवी तिलक और पद्मासनी मुद्रा! अम्मा, नानी दूर से ही सिर नवातीं, वैसा ही हम सब बच्चे भी देखा-देखी करते. थोड़ी देर पहले का चिल्ल-पों एकदम शांत हो जाता और हम सब कतार बांध, एक-दूसरे की उंगली पकड़े, बड़ों के पीछे हो लेते.

एक अजीब-सा नशा, सुरूर-सा, सब बच्चों पर तारी रहता. कौन ज्यादा से ज्यादा जोर से आंखें भींच बाबाजी को मत्था टेकेगा और चुपचाप नीचे बिछी पाटी पर बैठ जायेगा, खबरदार! छूना नहीं कोई बाबाजी को. उनके पैर को भी नहीं. मनाही है. बस दूर से ही मत्था टेकना बोलते भी कहां हैं बाबा जी. बस एकाध शब्द बहुत धीमे-से . . . और कभी-कभी तो महीनों का मौन सिर्फ धीमे से मुस्कराकर आशीष का संकेत देते हैं, हाथ से. कभी गुस्सा होते ही नहीं, न उद्विग्नता, न क्रोध, न अशांति. बचपन से किशोरवय तक की फैली यादों में उनकी बस एक ही परम शांतिमय मुद्रा याद है.

लेकिन बिना उनकी आज्ञा के एक पत्ता तक नहीं खड़क सकता पूरे आश्रम में.

नानी के इशारे पर लड्डुओं की टोकरियां, सामने चौकी पर रख दी जातीं. बाबा जी छूते भी नहीं, हाथ से आशीर्वाद दे पास खड़े साधु को इशारा कर देते, राम-लला और हनुमान स्वामी को चढ़ा देने के लिए, दो-तीन साधु फौरन टोकरियां उठा चल देते.

एक के बाद एक मंदिर में प्रसाद चढ़ता. घंटी टुनटुनाकर तुलसी दल छिड़क जाता, हम सब बच्चे उचक-उचककर यहां-वहां लटकते बड़े-बड़े घंटे बजाने लगते. जो ज्यादा छोटे होते, उन्हें बड़े लोग बांहों से पकड़कर उचका देते.

वापसी में नानी माथा नवाकर धीमे से लड्डुओं के चढ़ावे का मकसद बतातीं—"बड़े दामाद को तरक्की मिली है बाबाजी! आपके आशीर्वाद से बड़े हाकिम हो गये हैं अब . . ."

बाबाजी वैसे ही हाथ दिखा मुस्करा देते. कभी-कभी नानी थोड़ी देर तक असमंजस की-सी स्थिति में चुपचाप बैठी रहतीं फिर धीरे-धीरे साहस बटोर, मन की दुविधा और द्वंद्व बाबाजी के सामने रखतीं—इनके पिताजी के फोड़े में मवाद दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है—कोई-कोई लोग बंबई ले जाने की राय दे रहे हैं . . . बड़ी चिंता और उलझन में हूं महाराज . . .

बाबाजी इस पर भी वैसे ही एक हाथ से शांत रहने का संकेत करते और धीमे से कुछ इस तरह से अस्फुट स्वरों में बुदबुदाते—'एक ही सीताराम सब जगह है बच्चा . . .' या कि 'सब भगवान पर छोड़ दो . . . समय आपसे आप निर्णय ले लेगा . . .' और अम्मा, नानी पूर्ण-तृप्त शांतभाव से उठ आतीं. भीषण से भीषण अकाल, संकट, हारी-बीमारी, दुख-अवसान तक के क्षण में यही होता. नानी जब बहुत विक्षिप्त हो उठतीं तो हनुमान गढ़ी बाबाजी की चौकी पर मत्था टेकने पहुंच जातीं और बाबा जी जाने क्या दो-एक शब्द ही बोलते कि स्थिर शांत हो लौट आतीं. सारा उद्वेग, सारी विक्षिप्तता वहीं छोड़कर.

अरे हां, सबसे अच्छा तब लगता जब लौटते हुए मत्था टेकते समय बाबा जी सबको हाथों में के बड़े इलायची की सुगंध से महमहाता एक-एक लड्डू देते प्रसाद स्वरूप. हमारे लाये लड्डुओं से नहीं, अपने पास रखी प्रसाद की टोकरी से.

ज्यादातर मंदिर के साधु-संन्यासी हमें पहचानते थे. अतः लौटते समय भी कुएं की जगत पर बुला बाल्टियों से ठंडा पानी निकाल देते जिससे हम प्रसाद खाकर ठंडा पानी पी लें. ऊपर से गर्मियों में तो अक्सर कुएं पर दो-तीन बाल्टियों में सिंदूरी पीलेवाले आम भरे होते और सुनने को मिलता—'बाबा जी की आज्ञा है, बाल-गोपाल सब आम खाकर जायें . . .' बस और हमें चाहिए क्या होता. राम खिलावन सईस भी मगनमन आ पहुंचता. डटकर आम चूसे जाते; कुएं का ठंडा-ठंडा पानी पिया जाता और वही ठंडा पानी अपने-अपने हाथ-मुंह पर उलीच वापस इक्के में अपनी-अपनी जगह छेकने दौड़ पड़ते.

न कोई स्थापत्य, न पच्चीकारी, न लाल-पीले जरी-गोटे की तामझाम ही—सिर्फ यहां-वहां ईंटों के बने छोटे-बड़े चबूतरे, एक-दो महात्माओं की समाधियां, चूने-बजरी से हुई ईंटों की जोड़ाई, वैसे ही पलस्तरोंवाले सफेदी किये सामान्य से दिखते मंदिर और मूर्तियां—हनुमान मंदिर, रामलला तथा सीता मइया का मंदिर और बांके बिहारी गोपालजी का. पर कितनी बड़ी सम्मोहन स्थली थी यह हम बच्चों की! तुलसीदल के टुकड़े पड़ा, सादे पानी का चरणामृत पुजारी जी आचमनी से नन्ही-नन्ही जुड़ी हथेलियों में डालते तो आंखें जैसे आप से आप मुंद जातीं. बांके बिहारी के चरणामृत में मिश्री भी घुली होती. खबरदार! चरणामृत या प्रसाद का लड्डू एक हाथ से नहीं लेते. हथेली पर हथेली जुड़ी होनी चाहिए, दोनों हाथ से.

इन्हीं जुड़ी हथेलियों से नानी आते समय धीमे से जैसे एक परम दुर्लभ, परम-पावन चीज मांगती. वह होती भस्मी या भभूति. बाबा जी के संकेत पर एक साधु पलाश की दोनों में विभूति बांध प्रस्तुत कर देता, नानी को मानो दुनिया की अमूल्य निधि मिल जाती. बार-बार माथे से लगा, आंचल के टोके में बड़े यत्न से बांध लेतीं.

वह विभूति अभी तक अम्मा के पास थोड़ी न थोड़ी पीतल की मुरादाबादी डिब्बी में रखी है. अब भी जब कभी कोई महाविपत्ति या संकट आन पड़ता है, अम्मा धीरे से वह विभूति, संकटग्रस्त व्यक्ति के माथे से छुआ देती है, और अम्मा का अटल विश्वास है कि संकट टल जाता है . . . आज फिर से हनुमान गढ़ी जाने का शायद एक मकसद यह भी रहा हो कि विभूति चुक-सी गयी है. इसलिए हनुमान गढ़ी के पारिवारिक तीर्थ से थोड़ी और विभूति लाकर बची-खुची उम्र और संततियों के सुख-शांति का बंदोबस्त किया जा सके. फिर न जाने कब आना हो इस नगरी . . .

और यह सपना साकार हुआ. पूरे तीस, नहीं तीस क्यों, बत्तीस सालों बाद . . . वही सफेद गुंबद—वही पीले जंगली कनेर—मकोइयों की झाड़ें—लेकिन यह अमराई—यह इतनी छोटी-सी कैसे लग रही है? पहले कितनी दूर तक फैली लगती थी? या फिर हो सकता है, तब छोटे थे न! कौन जाने यही अमराई बड़ी लगती रही हो. लेकिन सन्नो तब तक पूछ बैठी थी और बगल से गुजरते साधु ने बताया था कि "हां, कुछ फसाद हो गया था, मंदिर की चौहद्दी को लेकर. अमराई आश्रम के नाम दान खाते में थी पर बगलवाली जमीन के नये मालिकों ने दावा कर दिया था. कुछ पक्की लिखा-पढ़ी के कागज कहीं मिले ही नहीं, सो अब अमराई आधी रह गयी."

कोई बात नहीं, हम सब उसी में उछल-कूद लिये. ठेंग-ठेंगकर चलती, हांफती-सी मां ने नानी की ही तरह बरजा और शांति से सबसे पहले बाबाजी की चौकी पर चलने को कहा. पुरानेवाले बाबा जी तो कभी के शरीर त्याग गये थे. उनके बादवाले भी ये तीसरेवाले बैठते हैं अब गद्दी पर उनकी.

ये वाले बाबाजी, चौबारे पर नहीं, ओसारे में खटिया पर बैठते हैं. सो वहीं ओसारे में बैठ लिये. इधर-उधर घूमते-फिरते, उपले-अलाव जलाते साधु-संन्यासी हंस-बतिया रहे थे. एक आटा मांड रहा था, एक-दो आलू-तोरई छील-काट रहे थे. बीच-बीच में अजीब-अजनबी निगाहों से हमें ताक ले रहे थे.

पूछने पर एक ने बताया—"बाबा जी दिसा-मैदान गये हैं, बैठिये, आये जाते हैं."

दिसा-मैदान! इस समय दोपहर में! सुनकर अजीब-सा लगा.

बगलवाले उपले फूंकते कंजे साधु ने जानकारी दी—"कल दक्खिन के टोले में सादी की दावत थी न—इसी से—"

और बाबाजी की अस्वस्थता का कारण बता, वापस उपले की आग फूंकने लगा.

समय कम था. हम सब तब तक मंदिरों के दर्शन करने उठ आये. सबसे पहले रामलला और बांके बिहारी के मंदिर की सीढ़ियां चढ़े. हां, वही घंटे-घड़ियाल और रामनवमी पर बजनेवाला नगाड़ा धूल से अटा कोने के बड़े आले पर रखा था. पुजारी ने घंटी टुनटुनायी और आचमनी से चरणामृत दिया—हमने आचमनी की ओर देखा, यह सोने-सी चमचमाती आचमनी तब कितनी अमूल्य, दिव्य और दुर्लभ-सी वस्तु लगती थी. अब तुड़े-मुड़े किनारोंवाली काली लोहे-सी मटमैली हो गयी थी. रामलला, जानकी मइया का अंगरखा, दुपट्टा भी सिकुड़ा लुगरी-सा जीर्ण-शीर्ण किसी तरह उनके तन ढके था—

सन्नो जाने कैसे कह गयी—"ठाकुर जी लोगों के अंग-वस्त्र तो बड़े गंदे हो रहे हैं पुजारी जी?" पुजारी फौरन बोला, "हां, उस गंजे साधु के जिम्मे कर दिया था न बाबा जी ने. महादुष्ट है वह. ठाकुर जी के वस्त्रों के लिए दिये गये पैसों का गांजा पी गया. इसी से न उसे हटा दिया गया और अब मुझे रखा गया है." फिर एकाएक जैसे उसे कुछ बड़े पते की बात सूझ गयी हो, ऐसे बोला, "क्या किया जाये . . . आजकल लोग चढ़ावे भी तो दिल खोलकर नहीं लाते न—दान-पुण्य पर सरधा ही नहीं रही धनी-मानी लोगों की . . ."

हमने अपने-अपने पर्सों से एक-एक, दो-दो रुपये के नोट निकाले. साधु की आंखें चौकन्नी हो खुशी से चमकीं कि हमने वे नोट ताले बंद दानपात्र में डाल दिये. भभककर जला हुआ साधु का चेहरा जैसे धुआं-धुआं-सा हो आया.

अरे बाबा जी आ गये, चलो पहले बाबाजी के पास. बाबाजी दिसा-मैदान से आ मिट्टी से हाथ मांज रहे थे. अंगोछे से पोंछते-पोंछते आये और खाट पर बैठ गये. हम सबने एक साथ माथा नवाया. उन्होंने अतिप्रसन्न स्वर में "जय हो-जय हो" कहा और पूछा, "कहां से पधारे आप लोग?"

मां ने बताया, "मुंसरिम साहब की कोठी से महाराज." और गदगद हो हाथ जोड़ दिये.

अब के बाबाजी ने बारी-बारी हम सबों पर दृष्टि डाली. हमने आंखें मूंद, सिर नवाने की कोशिश की. लेकिन आश्चर्य! वह इतनी-इतनी आस्था समोये अपनी यज्ञभूमि में आये हम सब पल भर को आंखें मूंद, माथा तक न झुका सके? अपनी इस पुण्य स्थली का चरम क्षण

● सूर्यबाला

यही तो हुआ करता था, जब बाबाजी की दृष्टि निमिष मात्र को ही सही, हम सबकी ओर उठती थी! और आज जब दृष्टि उठी, हम जल्दी से इधर-उधर देखने लगे.

"अच्छा महाराज, चलते हैं . . . घर में बच्चे का मुंडन है, समय बिल्कुल नहीं था लेकिन . . ."

अचानक बाबाजी चौंक गये, "अरे? ? तो आप लोग वकील साहब की कोठी से पधारी हैं . . . वहां से तो आज ही सांझ के लिए दावत का न्योता आया है; कोठी से सबका बुलावा है—अच्छा-अच्छा . . ." और खुश होकर धीरे-धीरे पालथी हिलाने लगे.

मां ने ग्यारह रुपये खाट पर बिछे टाट पर रखकर भक्ति विह्वल स्वर में कहा, "थोड़ी भभूति चाहिए थी महाराज . . ."

बाबाजी ने झटपट रुपये टाट के नीचे सरकाते हुए पास खड़े साधु को हुंकारा दिया, "मां जी को थोड़ी भभूती लाके दे दे—" लेकिन साधु वहीं खड़ा टाट के नीचे सरकते रुपये को देखता रहा. बाबाजी ने दुबारा अपनी ठेठ भाषा में हुड़का तो वह धीरे-धीरे डोला और पीपल के पीछे से थोड़ी भभूत उठा लाया. मां ने देखा तो बोलीं, "थोड़ी और मिलेगी महाराज! अब तो परिवार बढ़ गया है न; सबमें थोड़ी-थोड़ी बांट दूंगी . . ."

साधु फिर गया और इस बार एक मुट्ठी भभूत पहलवान-छाप बीड़ी के कागज में बांधकर लाया और होंठों के कोने से मुस्कराते हुए मां को पकड़ा दिया.

"अब आज्ञा हो महाराज . . . चलती हूं."

"हां—हां कल्याण हो . . ." उसके बाद बाबाजी बड़ी आजिजी से बोले, "जरा वकील साहब से कहियेगा, मंदिर के तीनों मुकदमों की तारीख जरा जल्दी-जल्दी पड़वा दें . . . गवाहों के बारे में फिकिर न करें बहुत मिल जायेंगे. न होगा तो दस-बीस दे दिलाकर जुगत बैठा ली जायेगी. आम के बीस पेड़ निकल गये—उसके लिए भी वापस मुकदमा दायर करवाया है . . . ठाकुर जी की मलिकियत ऐसे कैसे छोड़ दें हम लोग . . . और रुपये-पैसे की भी काफी किल्लत हो गयी है . . ."

मां का पूरा ध्यान माथा नवाने पर था इसलिए बाबाजी की बात ठीक-ठीक सुनी ही नहीं उन्होंने. "अच्छा महाराज" करती सीढ़ियां उतर आयीं.

अनायास सीढ़ियां उतरते-उतरते दृष्टि लौटी तो देखा—उसी पीपल के पीछे से दूसरा साधु मुट्ठी भर भभूत लिये निकला और वहीं एक तरफ बैठकर आलू-तोरई छीलनेवाला तसला मांजने लगा.

वापस रिक्शे में बैठकर चलने से पहले अंतिम बार एक बार फिर से समूची हनुमानगढ़ी को देख लेना चाहा है तो अपने आप में चौंक गयी हूं. जैसे किसी ने कोई मारक मंत्र पढ़कर फूंक मारी हो. इस तरह समूची आस्था की स्थली विलुप्त हो चुकी थी. शेष थे सिर्फ सूखे कनेर के फूल, भग्नप्राय चौबारे और सिकुड़कर बड़ी हो गयी अमराई . . . □

● सी-4, प्रथमेश अपार्टमेंट (अंधा नाला), बांबे डाइंग कंपाउंड, प्रभादेवी, बंबई-400025

यात्रा-मुक्त

राजी सेठ

बापू उसे भी उसी पुश्तैनी दासता में पारंगत करना चाहते थे मगर वह दासता हो नहीं उसके बापू को दास बनानेवाली इस हवेली के तमाम लोगों को अपना प्रतिद्वंद्वी, बैरी मान बैठा था और चाहता था कि न केवल इनसे लोहा ले बल्कि अपने बापू को भी मुक्त करा ले जाये —गरीब और अमीर में छिड़े इस युद्ध का परिणाम क्या हो सकता था . . . ? कौन-से अस्त्र-शस्त्र थे किस ओर . . . ? इस अनहोने शीत-युद्ध का आंखों देखा हाल-सा बयान करती प्रख्यात कथा-लेखिका की यह रचना—

"किट्टू. . . ओ किट्टुआ !" आवाज भीतर से उठकर हवेली के पिछवाड़े दौड़ती-थरथराती चली आयी थी. रात के दस बजे हैं. अस्पताल से खरीदारी करते हुए घर लौटने में देर हो जाती है. अभी वह पढ़ने बैठने की मंशा को उलट-पलट ही रहा था.

इस नाम से उसके भीतर-बाहर आग लग जाती है. किशन नहीं तो 'किशना' कह लो, किशनू कह लो, पर इस दरबार में किस बात की सुनवाई है. बापू पर झुंझलाओ तो वही एक उत्तर—

"मालिक हैं, कुछ भी कहें. . . क्या फर्क पड़ता है."

क्यों. . . फर्क क्यों नहीं पड़ता. अपने ही नाम को इस तरह तोड़-मरोड़कर हाथ में दे देने का फर्क क्यों नहीं पड़ता. हाई स्कूल के सर्टिफिकेट पर लिखा 'कृष्ण चंद्र' भी उसी का नाम है. पढ़कर लगता है कि किसी ने नंगे बदन कपड़े पहना दिये हों. अक्षरों पर हाथ फिरा-फिराकर देखता है. . . वह तो वैसे के वैसे लेटे रहते हैं चुपचाप पर भीतर कुछ पानी की सतह की तरह द्रवित होकर ऊपर चढ़ने लगता है.

"आगे क्या लगायेंगे बापू ?" उसी सपने में डूबते उसने एक दिन बापू से पूछा था.

"आगे क्या का क्या मतलब ?"

"मेरा मतलब है. . . उपनाम. . . सरनेम ?. . . नहीं समझते? मतलब जात क्या है हमारी ?"

"कौन ससुर तू राज-दरबार में बैठा है. . . जात क्या है हमारी!" बापू ने उसकी नकल बनाते हुए कहा, "यहां बैठे जून गुजर गयी तुम्हारी. . . तू साला दर-दर. . ."

बापू ही सब मटियामेट कर देते हैं तो दूसरों से क्या शिकायत.

आवाज थी कि सन्नाटे को चीरती फिर से आयी थी. एक खास तरह का खुरदरापन. . . उसमें चील रहा था. व्यर्थ सोच रहा था कि खाना टाल जाये. खा लेने पर नींद घर दबाती है. पर अब कुछ नहीं हो सकता था. उस आवाज को टाला नहीं जा सकता था. उसे सुनकर किसी खिलाड़ी की तरह चूने की सफेद रेखा पर से दौड़ पड़ने की तत्परता उसके खून के स्वभाव से मांगी जाती थी.

भीतर गया. काम कुछ भी खास नहीं. तरुण बाबू को अपनी सोने की चादरें एकाएक गंदी लगने लग गयी थीं—और वह उन्हें बदलवाना चाहते थे, अभी. . . एकदम. . . तुरंत, यह भूलकर कि चादरें हर शनिवार को अपने आप बदल दी जाती हैं, और आज तो मंगलवार ही था.

वह अब नहीं चूकते. . . किसी एक मौके पर भी नहीं. घात में बैठे रहते हैं कि कैसे उनकी ही उम्र में उन्हें लांघ जानेवाली उसकी ऊंचाई को पीसकर रख दिया जाये. अपने अहं को सेंकने का यह खेल उन्हें पसंद आने लगा है—पुकारना और आदेश लेने को तत्पर खड़ी दासता को अपने सामने खड़ा कर लेना. बड़े मालिक बिस्तर से बंधे हैं. यह हक उन्होंने अब अपने को खुद दे लिया है.

वह चुपचाप चादरें बदलता है. . . तरुण बाबू की उपस्थिति को भूलकर. काम पूरा करके जाने को तत्पर होता है कि एक कठोरता गूंजती है—"रुको. . . बैठो."

कहां बैठे ? बैठने का सवाल नहीं है—उनके पैरों के पास, गलीचे की बाहरी कोर से थोड़ा हटकर. और कोई जगह वहां नहीं है.

"सुना नहीं. . . मैंने कहा बैठो. . ."

स्वर में सीधी खड़ी निर्विकल्प कठोरता. वह पजामा समेटकर बैठ जाता है.

"इस टेबल के नीचे जो अखबारों की गड्डियां हैं, उसमें से कपिलदेव की बल्लेबाजी के सारे फोटो ढूंढ़ निकालो. . मेरे एल्बम के लिए. . ."

इस तरह का काम ?. . . पढ़ाई का बोझ. . . रात का यह पहर. भूखे-प्यासे. उसके भीतर जम्हाइयां अकड़ने लगती हैं पर उसकी देह को अपने ही आदेशों को टाल जाने की आदत है. चित्र ढूंढ़ निकालता है तो तरुण बाबू को वह अपर्याप्त लगते हैं. 'एक्शन' के साथ 'नेरेशन' भी उन्हें चाहिए. "नेरेशन. . . क्यों. . . नेरेशन नहीं समझते ?. . . तुम तो बड़े हैड मास्टर हो !"

यह कील कहां ठोंकी गयी है, वह जानता है. . . बिना आंख उठाये भी जानता है. यह घाव है जो तरुण बाबू के मन में सतत रिसता है. यह वैभव और ऐश्वर्य उनका है. . . स्वामित्व उनके भाग्य का है पर यह उपलब्धियां और सफलताएं क्यों नहीं उनकी हो पाती. यह किट्टुआ क्यों सीढ़ी दर सीढ़ी लगाकर चढ़ता है और वे ?. . . इस हवेली के उत्तराधिकारी वे. . .!

फर्श से उठा तो देखा तरुण बाबू ने पैर सामने की टेबल पर रख लिए हैं और मुंह के आगे एक अखबार. . . जैसे न देखने योग्य वस्तुओं के आगे एक दीवार. खिन्न हो आया.

कोठरी में आया तो पढ़ने बैठने के संकल्प की फूंक निकल चुकी थी और भूख भड़क आयी थी. ऐसे में संकल्प को पेट से बांधकर पढ़ने बैठना ?. . . नहीं, इतनी-सी हिम्मत भी उसे उस समय अपने भीतर से गायब मिली. . . क्या होगा पढ़कर ?. . . पुस्तकों के रास्ते आगे और आगे की सीढ़ियां चढ़ना और बिना भविष्य के शून्य में झूल जाना. . . इससे तो अच्छा था, वह इन किताबों को ईंट-पत्थर समझता और अपनी हदों से बाहर फेंक देता. इन किताबों ने ही दूभर कर रखी है जिंदगी. . . न इधर, न उधर. अच्छा रहता वह भी बापू की तरह.

हवेली ने बापू का लड़कपन देखा, जवानी देखी, अब अधेड़ापा भी देख रही थी. गिरजाघर में ब्याही जानेवाली वधू की पोशाक की तरह उनका लड़कपन अपनी मां के पीछे इन्हीं फर्शों पर घिसटता-पड़ता खत्म हो गया था. उनका सपना वहीं तक था. इस आंगन में अपनी मां के पीछे भागते-दौड़ते जवान हो जाना, टहल-सेवा के शऊर सीखना, कचहरी से लौटे मालिक के पैरों को जूतों से खाली करना, शौच के लिए लोटा भरना. चाकरी के नित नये तरीके सोचते रहना और पुकारे जाने पर 'जी हुजूर' का ऐसा मिश्रीनुमा रसायन घोलना कि मालिक को भी आंख उठाकर देखना पड़े.

आठवीं में वह प्रथम आया था और तरुण बाबू फेल हुए थे. मालकिन के इधर-उधर रिसते ममत्व की थाह पाकर वह उनके पास जाने की फिराक में ही था कि बापू ने अपनी आंख की कठोर वर्जना से उसे वहीं. . . उस दहलीज के पास ही खड़े-खड़े गुम कर दिया. मालकिन का मिलौरीदान तख्त पर रखते ही लपककर आये और उसकी बांह पकड़कर वापिस कोठरी में ठूंस दिया—

"वहां जाने की कोई जरूरत नहीं है. ऐसा कोई बड़ा तीर नहीं मार लिया है तूने?. . जानता नहीं तरुण बाबू का रिजल्ट? कैसा लग रहा होगा मालकिन को. . ."

वह बुझ गया. नया-नया वहां आया था. नहीं समझ पाता था क्यों बापू का अपना सुख हवेली के दुख के सामने एकाएक इतना छोटा पड़ जाता है.

बापू को ये सब सवाल परेशान नहीं करते थे. वहां—हवेली के बीचोंबीच खड़े उनके जिस हिस्से की हवेली को जरूरत न होती, उसे बापू अपने लिए भी फालतू समझने लगते.

यह कितनी अजीब बात थी कि अपनी शादी के बाद भी अपने बीवी-बच्चों को लेकर गांव में रहने का अरमान उनके मन में नहीं पनपा था. मां को गांव में ही रख छोड़ा था. हफ्ता-दस दिन में आते. . . कभी-कभार टिक भी [illegible] शहर जाने को ऐसे लपकते जैसे अब उन्हें अपने घर लौटने की जल्दी हो.

गांव में रहती मां कभी-कभी हवेली चलने का हठ करती. बापू की सतत अनुपस्थिति ने उसके बचपन को दरजा दे दिया था. वह कोरी कमीज पहनता. . . कामदार दोपल्ली टोपी और मां को लेकर बस के अड्डे चल पड़ता.

बापू उन्हें देखते ही आग-बबूला हो जाते—"चैन नहीं पड़ती उहां. . . आ जाते हैं खाने. . . हियां क्या खाना धरा है. खा कर आये होते."

यह सब सुनना उसे गड़ता. तुरंत कह देना चाहता घर से खाकर चले होने की बात, पर पास घूंघट में बैठी मां चुटकी काटकर उसे बरज देती. बाद में बताती कि खाने के बहाने कुछ देर तो बैठेंगे.

बापू बगलें झांकते मालकिन को खबर करते. झेंपे हुए से. एक पैर दहलीज के भीतर एक बाहर—"बो ऽ बो आये हैं. चले आते हैं हियां मरने. हियां क्या खाना धरा है."

मालकिन खिलखिलाकर हंसती—"अरे, आये हैं तो खिलाओ-पिलाओ. . . खातिर करो. . ."

पर बापू झींकते-बुदबुदाते रहते. एक काली-सी बटलोई में नमक और चावल डालकर भात पकाते और खुद गुड़ की डली मुंह में डालकर पानी पी लेते.

"यहां किस बात की कमी है?" मां खीझती.

"कमी नहीं तो हम ही लूटकर खा जायें." बापू का तर्क होता—हमेशा हवेली के हक में झुका हुआ.

मां के मरने पर उसने पहली बार बापू को कई दिन तक घर में देखा था—सांझ का धुंधलका. . . आसमान में ठहरी हुई आंधी की पीली घुटन. . . कोठे के बाहर दालान में मां जमीन पर लेटी हुई. . . सिर ढका हुआ. . . साड़ी का पल्लू आंख के पपोटों से नीचा. वह खूब जोर-जोर से सांस ले रही थी. बापू कुछ दूरी पर दीवार के सहारे बैठे "सिरी राम—सिरी राम" का सीत्कार कर रहे थे.

"तनिक हाथ तो दे लाला." ताई की वह पैनी-सी खीझ उसे अभी तक याद है.

बापू उठकर आये तो थे पर ऐसा कुछ करने का शऊर शायद उनके हाथों को नहीं था. टुकुर-टुकुर देखते भर रहे.

मां के आखिरी सांस भरने के बाद ही उनका हाथ मां के माथे पर गया. एक बार उन्होंने मां की कलाई पर अपनी उंगलियां फिराईं और फिर चुपके से बांह को नीचे रख दिया.

मां की दाह के बाद वह बापू के आमने-सामने हो गया था. अब तक बीच में एक आड़ थी. उस आड़ में वह बापू को एक बेगानी जिज्ञासा से देखा करता था. वह आड़ अचानक खींच ली गयी. सब कुछ उघड़ गया था एकाएक. इस सामने के लिए वह कतई तैयार नहीं था और बापू द्वारा किये इस प्रश्न के लिए तो बिल्कुल भी नहीं, कि—

"क्यों बे, अब तू कहां रहेगा?"

"मैं ऽऽमैं?" ऐसे अछोर आकाश के नीचे खड़ा वह एकाएक रो पड़ा.

बापू शायद पसीज गये, "मैं तो पूछ रहा था कि तू गांव रहेगा या शहर?"

इस बात का उसके पास क्या उत्तर था. गांव रहेगा तो कहां रहेगा, शहर जायेगा तो कहां जायेगा... पर बापू के सामने कोई ऐसा संकट नहीं. उनका जीवन एक ऐसा बहाव था जो हवेली की दीवारों को छूते ही खुद एक भंवर बन जाता था. उसके जीवन का अनुवाद भी बापू ने अपनी तरह कर लिया. बर्तन-भांडे, कपड़े-लत्ते, हांड़ियां, मथानी, सूप, छलनी—सब बांट दिए और उसे लेकर हवेली आ लगे. सिर ऐसा झुका हुआ जैसे उनके कुपुत्र के बोझ से हवेली की नींवें लड़खड़ाने लगेंगी.

उसे यहां लाकर तो बापू और भी निश्चित हो गये. इतना पास बिठाकर तो बिल्कुल ही भूल गये. क्यों नहीं सोचते कि वह इन चौहद्दियों, दीवारों और दालानों में क्या करे. यहां न संतू था, न जग्गी, न खेत, न कुएं, न मैदान, न बावड़ियां. यहां न पैर छपछपाने की छूट है, न सिंघाड़ों की छीना-झपटी, न रातों-रात ईख की चोरी का आनंद. यहां भीतरी बरोठे से लगी एक कोठरी थी और बापू—जो मालिक के कचहरी से लौटते ही चाहते कि किशना-किशना न रहकर भाप बन जाये. तरुण बाबू उसके समवयस्क थे—लगभग दो साल बड़े. उन्हें देखकर पहले-पहल वह खूब उत्साहित हुआ था पर शीघ्र ही समझ में आ गया था कि यह समवयस्कता दूर से दीखती एक टकटकी भर है... एक मनाही... एक पुख्ता बेदर्द दीवार और अब तो अपने परीक्षा परिणामों से उसने उन्हें और भी नाराज कर दिया था.

बस... एक मालकिन थीं... तख्त की चकाचक उजली चादर पर कलफदार साड़ी पहने बैठी वह पान की गिलौरियां उलटती-पलटती होतीं. उनकी चूड़ियां छमछम बजतीं और चेहरा दपदप चमकता.

अपनी कोठरी से निकलकर दालान से जुड़े बरोठे की ऊंची दहलीज के पार वह झिझकता खड़ा होता.

"क्यों रे... वहां क्यों खड़ा है? आ जा अंदर." पुचकार लेतीं.

वह बहुत धीरे-धीरे आगे सरकता... दीवार के सहारे... वैसे बुलाने को न टाल सकने के कारण.

"क्यों रे, तुझे बोलना नहीं आता?"

वह सकपका जाता. करधनी के ऊपर के उनके गुदाले मांस पर गड़ी अपनी आंखें हटा लेता. गुलाबी साड़ी की प्रतिच्छाया की आंच में तपा हुआ उनका चेहरा... वह अवाक् रह जाता.

वहां दिन प्रतिदिन हड्डियल होती जाती सूखे तन-बदनवाली उसकी मां... इन्होंने जरूर कभी ध्यान से उसकी मां को नहीं देखा होगा. देखतीं तो जरूर कुछ करतीं.

आखिर उसका गवर्नमेंट स्कूल में दाखिला इन्होंने ही करवाया था. बापू नहीं समझ सकते थे कि अपने नतीजे के दिन वह क्यों उनके आस-पास मंडरा रहा था... क्यों. बापू झिड़ककर उसे कोठरी में ठूंस जरूर गये थे. पर वह वहां बैठा नहीं रह सका. इस तरह नाकारा-निकम्मा सिद्ध हो जाने में उस समय उसे कठिनाई पड़ रही थी... पीले-पीले नतीजे के कार्ड पर इतनी सारी लाल रेखाओं के रहते.

मालकिन बड़ी आलमारी में बने ठाकुरद्वारे के सम्मुख बैठी थीं में रुई की बाती भिगोती संध्या की पूजा का जुगाड़ कर रही थीं. उनका चेहरा प्रफुल्ल नहीं है, यह देखकर पहले तो वह भयभीत हुआ फिर...

"सुन रे!..." एक उदास आवाज ने उसे टेरा. "यहां आ... ले!" मालकिन की बंद मुट्ठी उसकी मुट्ठी में खुल गयी थी, "सुना है तू पहला पास हुआ है... जा, जलेबी खा ले."

उसका चेहरा दीप्त हो आया. हठात् उसने बढ़कर मालकिन के चरण छू लिये. मालकिन भर-सी आयीं, "हां, जा, जा! खुश रह... खूब..." एक उसांस उसका पीछा करती रही.

बाहर आकर उसने मुट्ठी खोली. उसमें दो रुपये का मुड़ा-तुड़ा नोट था. एक झनझनाहट-सी उसके भीतर दौड़ गयी. यह पुरस्कार उसे मिला है—उसे! बापू के बीच-बचाव के बिना... सीधे मालकिन से... बापू सुनेंगे तो अवाक् रह जायेंगे. उनके आने तक वह जागता बैठा रहेगा. जलेबी खाने भी नहीं जायेगा.

बापू आये तो बेहद घिरे हुए थे. मालिक ने दसवें में फेल होने पर तरुण बाबू की धुनाई की थी. अपने और उसके भविष्य की अभी से दीखती आहटों की वास्तविकता खोलते हुए तुलना की थी—"तुमसे तो अच्छा किशना है, लालटेन लेकर पढ़ता है, लेकिन फर्स्ट आया है."

"तो उसे ही फिर गोद ले लीजिए!" धृष्ट निगाहों से मालिक को घूरते तरुण बाबू छत पर चढ़ गये. मालिक घायल हुए थे—भीतर-बाहर दोनों. दुख, विषाद, ताप, क्रोध, चिंता... क्या कोई एक बात रही होगी मन में...!

बापू इसी सब को लादे-लादे भीतर आये. अब उसके लिए यह कोई नयी बात नहीं थी. बापू हवेली की आंख से हंसते, हवेली की आंख से रोते हैं, जानता था.

कोठरी में घुसकर कुरता खूंटी पर टांग बापू पड़ गये... गुड़ और पानी लिए बिना. इस अभ्यास का टूटना...?

वह दीवार की टेक लगाकर जमीन पर बैठा था—प्रतीक्षा करता. पर बापू के चेहरे पर वह दूरी... नहीं, अब वह और प्रतीक्षा नहीं कर सकता था...

"बापू, देखो?"

"क्या है?"

"देखो तो पहले... मालकिन ने दिया है फर्स्ट आने का..." एक गद्गद् भाव से उसने नोट को बापू की आंखों के सामने लहरा दिया.

बापू झटके से उठ बैठे. "क्या? मालकिन ने दिया है?"

"हां! मालकिन ने... खुद बुलाकर... जलेबी खाने के लिए..."

उनका चेहरा लौट आया—उसे साक्षात् सीधा देखता हुआ... उसके सामने बैठे होने को धारण करता हुआ. नहीं तो अब तक...

बापू ने उसे पास खींच लिया, उनके सिर पर सरकता हुआ उनका हाथ गर्दन के पीछे के भाग से चलकर उसके कंधे पर टिक गया. उसे नया-सा लगा... बिल्कुल नया. इसकी गंध या पहचान उसके भीतर नहीं थी कहीं. वह विचलित हो गया.

बापू ने उसे बांहों में भर लिया, "तू देख रहा है न तरुण बाबू की आदतों से मालिक को कितना क्लेश है. औलाद आदमी किस दिन के लिए पालता है..."

बापू फिर खो गये! 'किस दिन' के प्रसंग को छूते ही मालिक के साथ हवेली में जा खड़े हुए.

बापू की जकड़ का इस तरह एकाएक शिथिल हो जाना उसे खूब अखरा, पर वह क्षण भर पहले के छाती भर स्पर्श को ही संजोता बैठा रह गया. इस भरे-पूरे क्षण में वह बापू की उस बेध्यानी को भूल गया और उस स्पर्श को तह करके भीतर कहीं संभालकर रख लिया. नहीं, वह अपने बापू को ऐसे किसी संताप में तपने नहीं देगा. औलाद की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगानेवाला मालिक नहीं बनने देगा.

इसी खलबलाहट में उसे देर रात नींद नहीं आयी थी. दिन चढ़े तक वह सोता रहा. शायद... और भी सोता रहता यदि बापू उसके चेहरे पर टकटकी लगाये उसे उठा न रहे होते, "स्कूल को देर हो जाएगी बिटवा..."

कैसा दुलार? ...और बापू से? ...उस सुख को वह आंखें मींचे भोगता रहा.

"तेरे लिए दूध बांध दिया है... अब तेरी पढ़ाई बड़ी हो गयी है न? ...चल, जल्दी उठ, मुझे जाना है. मालिक उठ गये हैं."

वह पुल नया था. दो सिरों के बावजूद एक कमान के रिश्ते से सांधा. वह तो समझ ही नहीं पा रहा था कि उसे क्या नया-नया, भला-भला लग रहा था.

पता नहीं क्यों ऐसा हो गया था... पर हो गया था. उसके और तरुण बाबू के बीच एक खामोश-सी होड़ छिड़ गयी थी. जहां कोई संबंध नहीं था, वहां संबंध बनने लगा था—आड़ा, तिरछा, काले कलुष के स्वभाववाला. हार-जीत का गणित रास्ता काटने लग गया था. कोई तुलना नहीं थी... हो भी नहीं सकती थी. तरुण बाबू अंग्रेजी तर्ज के किसी मॉडल स्कूल में पढ़ते थे, वह सरकारी स्कूल में. उन्हें गाड़ी छोड़ने जाती थी, वह पैदल धूप में तपता जाता था. उन्हें टीचर घर पढ़ाने आते थे, वह लालटेन की रोशनी में... नहीं, कोई ऐसी जगह नहीं थी, जहां वह और तरुण बाबू एक-साथ खड़े हों, और तुला में पड़ा न्याय भी उसके हक में हो.

हवेली की बातों को लेकर वह हमेशा बापू की आड़ में खड़े रहना चाहता है. फिर भी अक्सर एक ठंडा क्रूर किस्म का आमोद उसकी शिराओं में बजने लगता है. बापू की पहुंच और पहचान से परे. बापू उसे देख पायें तो निष्प्राण कर दें? ...छितरा दें... इसलिए वह भरसक बचता है. पूरे मनोयोग से पढ़ाई में लगा रहता है. जानता है कोई और रास्ता नहीं है तरुण बाबू को पछाड़ने का... मात देने का. जरूरी है कि दत्तचित्त होकर, इधर-उधर देखे बिना उपलब्धियों के पहाड़ पर चढ़ता चला जाये और चोटी पर खड़ा होकर अपने को दूसरों के देखने के लिए छोड़ दे.

दसवीं में उसकी फिर फर्स्ट डिवीजन आयी थी. विद्यालय की तरफ से 'सर्वगुण संपन्न' विद्यार्थी का चमचमाता हुआ एक कप उसे पुरस्कार में दिया गया. आनेवाले दो वर्षों के लिए वजीफा भी मिला. तरुण बाबू के हमेशा की तरह किसी 'अदृश्य यत्न' से नंबर बढ़ाये गये.

बापू प्रसन्न होने की बजाय डर गये. हकलाने लगे. कप को उसके हाथ से छीनकर उन्होंने जाड़ों की गुदड़ी के नीचे ठूंस दिया.

"क्यों बापू?" वह छिल गया.

"रहने दे... रखा रहने दे, वहीं."

"क्यों, बापू क्यों?" एक अंधड़ उसके भीतर उद्विग्न हो रहा था.

बापू का चेहरा जैसे घाटी में उतरती धूप की परछाईं... "नहीं, बेटा! यह सब किसी से बर्दाश्त नहीं होने का." कहकर वह तेजी से हवेली की ओर चल निकले. कोठरी के अंधेरे में वह खड़ा रह गया—आहत.

बापू उसे खाना देने भी नहीं आये! शायद बचते रहे. महरी के हाथ खाना भेज दिया.

उस शाम वह अकेला पीपल के नीचे बैठा बाहर के बड़े कुएं की चर्खी को निशाना बनाकर पत्थर मारता रहा और बंदरों को मुंह चिढ़ाता रहा. मालकिन को भी अपना कप दिखाने की उसकी इच्छा नहीं हुई... वहीं कहीं उसी गूदड़ के ढेर के नीचे पड़ी सिसकती रही.

बापू क्यों नहीं समझते इन सब बातों से कुछ नहीं होता. एक नफरत उसके भीतर गहरी होती है. अपना ही गला दबाकर दम तोड़ती बापू की खुशी उसके गले पर ऐसी बेरहम खरोंचें छोड़ जाती है जो सतत फड़फड़ाया करती है. बापू जिस चीज को ढांपते हैं वह और उघड़ती है. जिसे मिटाना चाहते थे वह और गहरी उतरती जाती है.

आखिर किस बात से डरते हैं बापू? अपने को मार सकने की पराकाष्ठा में से उगती पुनर्जन्म की संभावना से? ...लगता है दासता की दलदल में पुश्तों से बैठे वह अपनी कोठरी में उगती उजास से डरते हैं. उतना-सा अपने को मिला हुआ अधिकार भी गह लेने की क्षमता उनके भीतर नहीं है. क्यों वह निचाई के चरम को अपनी पूरी उठान में पा लेना चाहते हैं?

नहीं, ऐसे नहीं चल सकता... आज रात वह बापू से खुलकर बात करेगा. जो कुछ वह नहीं देखना चाहते उसे समझायेगा. उनके पंगु हो चुके पैरों में ताकत भरेगा. बांह पकड़कर इस आंगन के परे ले जायेगा, आत्मा की उस सीलन से परे.

● राजी सेठ

वह पड़ा-पड़ा प्रतीक्षा करता रहा. बापू खासी देर से आये. कमरे में उनके घुसते ही उसने लालटेन की बत्ती उकसा दी जताने के लिए कि वह अभी जाग रहा है.

बापू ने घूरकर देखा पर कुछ बोले नहीं, बल्कि कुरता उतारे बिना दीवार के साथ धसककर बैठ गये, पसीना पोंछते.

"क्या हुआ बापू?"

"कुछ नहीं... टायर बदलने में पस्त हो गया. तरुण बाबू..."

"तुम तरुण बाबू के साथ क्या करने गये थे?" बापू की अधबीच ढांपढूंप को उसने उघाड़ा.

"कल दावत है उनके दोस्तों की... पास हुए हैं न? ...कुछ सामान जुटाना था."

"तुम्हें यह सब अच्छा लगता है, बापू?"

उसे पूरी आशा थी कि वह "हां" कहेंगे, मालिक के प्रति अपनी सदाशयता की दुहाई देंगे. पर वह चुप रहे... थके-थके आहत.

बापू का इस तरह अचानक अपने आप उसकी पकड़ में आ जाना... "बताओ न बापू!" वह उस सिरे को छोड़ना नहीं चाहता था.

"अब क्या है... जिनगी कट गयी... इस उमर में अब काहे का रोना..."

"हम कहीं बाहर चले जायें तो?"

कुछ देर खोये-खोये से वह उसे ठोहते रहे... "नहीं रे... दिल के मरीज हैं मालिक... अब मैं उन्हें छोड़कर कहां जाऊंगा."

"और भी कोई सोचता है कि वह दिल के मरीज हैं?"

"तभी तो... तरुण बाबू ही कुछ ढंग के होते तो..."

"तुमने ठेका लिया है उनका? उन्हें..."

'उन्हें चाकर ही चाहिए तो बहुतेरे मिलेंगे.' यह कथन उसके मन में तड़फड़ाया पर अपने को रोक गया. चोट किसी और पर नहीं बापू के मर्म पर पड़ती... चाकरी के खोल के नीचे छिपी उनकी धवलता पर.

"मालिक की चाकरी तक तो ठीक है बापू, पर तरुण बाबू? ...सोचो जरा... तुम्हारी उम्र का भी उसे लिहाज नहीं."

बापू गुम. चारपाई की पूरी लंबाई में अपने को तानकर कराहते-से. जाने उसे क्यों लगा कि उसके ठहर गये बचपन ने बापू को उस नरक में झोंक रखा है. हवेली अब कोई पहलेवाला शीतल प्रवाह नहीं है जिसके किनारे बैठ सब अपने-अपने हिस्से की शीतलता पा लें... उसकी नींव में अंगारे धधकने लगे हैं, पर बापू हैं कि... उनका जुड़ाव दीवारों से नहीं, नींवों से है. वह उन्हीं हादसों से डरते हैं जो हवेली की नींवों को डोला सकती हैं और तरुण बाबू हैं कि दोनों हाथों से नींवों में अंगार भर रहे हैं. कुछ नहीं हो सकता था... बापू को निकालकर ले जाने के सिवा...!

कल रात दिल का दौरा-सा पड़ा था मालिक को. कोई उत्तेजना नहीं थी उस समय, प्रकट क्लेश का कोई कारण भी नहीं. पहले अजीर्ण का वहम हुआ था, पर हींग के लेप, चूर्ण और पारपीन की सिकाई

के बाद भी कुछ नहीं बना तो डाक्टर ने दिल के दौरे का निदान किया था. बापू लस्त-पस्त थे, टूटे हुए... "वह तो और भी चिंता की बात है. घुन लग गया है मालिक के मन में."

तीन महीने आराम का डाक्टरी आदेश. तरुण बाबू को जैसे किसी ने पंख काटकर घर में डाल दिया हो. खाट से लगे पिता... आगतों का तांता... कागज-पत्तर... उन्हें पढ़ाई चौपट करने का बहाना मिल गया. आने-जानेवालों को उन्होंने जल्दी ही जाहिर करना शुरू कर दिया था कि वह इस भाईचारे के कृतज्ञ हैं परंतु इसके बिना भी चल सकता है. उन्हें और भी ढेरों काम देखने होते हैं. इस तरह सब के हाथ बंटती शाम उन्होंने समेट ली थी और दोस्तों की महफिल जमाने के लिए इस्तेमाल करना शुरू कर दी थी.

बापू को जैसे किसी ने चारों छोरों से बांध दिया हो. वहीं टिके रहते हर समय मालिक के आगे-पीछे. मालकिन की अनभ्यस्त हड़बड़ी भरी चिंता को पूरे दिन धीरज से थामे रहते पर कोठरी में आते ही उस आच्छादन को अपने पर घिर आने देते. उस चिंता की गूंजें फिर सारा दिन दीवारों से टकराया करतीं.

"देह में दुख हो तो आदमी पस्त पड़ा रहता है पर मालिक? ... उनकी देह में कोई घाव नहीं है. उनका मन जख्मी है, मन... समझते हो बिटवा, और ऊपर से तरुण बाबू... सब आने-जानेवालों को छेंक दिया... तनिक उनका मन बहलता..."

वह पहले से ही भन्नाया बैठा था. मंगल ड्राइवर ने उसे बताया था कि कल रात बापू तरुण बाबू को महफिल से अलग ले जाकर जिरह-मिन्नत, समझाई-बुझाई में लगे थे कि तरुण बाबू ने उन पर हाथ उठाया था. मंगल बीच में न पड़ा होता तो...

उसे मालिक के प्रति चिंता की इन गुजलकों में कोई रस नहीं... कोई रुचि नहीं. रुचि है बापू में... बापू की मुक्ति में जो प्रति क्षण जटिल होती जाती थी. उसने बापू की बात का कोई उत्तर न दिया.

कुछ उत्तर न देने से बापू ने बात आगे न बढ़ाई. चौपते से अपने को खाट के हवाले कर दिया.

वह मन ही मन नाराज था अंत: पलटकर देखने की जहमत नहीं उठाई. लालटेन की रोशनी में सिर झुकाकर पढ़ने का नाटक करता रहा.

'गट-गट'—उन्होंने उठकर सुराही से पानी पलटा. पानी पीकर वह वहीं पैरों के बल बैठे रहे. उस तरह उनका बेमतलब बैठे रहना उसे जाने कैसा-सा लगा.

"मांग क्यों नहीं लिया पानी?" उलाहना-सा देते हुए उसने खामोशी को छेदा.

वह जाने क्यों दहल गया. कौन किससे नाराज है और क्यों.

"पैर दाब दूं बापू?" अपने होने को उसने महसूस कराना चाहा और उत्तर पाये बिना हथेलियां को पिंडलियों पर टिका दिया.

"नहीं... नऽऽहीं..." एक बहुत कमजोर-सी मनाही उधर से उठी फिर निष्प्राण हो रही. पहली बार लगा बापू के खून में बहती शांति और आराम को वह स्पर्श कर पा रहा है—दूर तक. बापू तक पहुंच पा रहा है—सीधे. और बापू भी अपने को हवाले किये हैं—उसके, अपने बेटे के.

तब से उसके भीतर कुछ तय-सा हो गया. बापू की भाग-दौड़ को उसने अपने सिर ले लिया. उनकी तरह सारा-सारा दिन मालिक के कक्ष में जाकर नहीं बैठता था, पर असावधान भी नहीं रहता था. फल, सब्जी, दवा-दारू, डाक्टर—सब काम पहल करके करता था और बापू को उस भाग-दौड़ से बचा लेता था. वैसा खटना... धूप में भागते फिरना... एक पैर घर, एक बाजार में रखे रहना उसे अखरता. अच्छा लगता. जब बापू उस सुख को भोगते दीखते... रीझ-रीझकर...

उन्हें भी पता नहीं क्या हुआ था. किसी बनैले पशु ने अपने सींग उनकी पसलियों में गड़ा दिये थे. उन्हें अब खुद दरारें दीखती थीं. मालिक खिन्न, मालकिन चिंतित, तरुण बाबू आंगन के बीचों-बीच एक लठैत की तरह खड़े. एक पल न लगे और लहूलुहान कर दें... रिश्तों और बातों की नजाकत को भूलकर.

अब पैर दौड़ते थे बार-बार—कोठरी की तरफ. लालटेन की रोशनी में सिर झुकाये अपना भविष्य बांचते छोरे की तरफ. एकाध फल या मिठाई का ठौर हाथ धर रखो तो घूरेगा... 'कब गये थे?'... 'क्यों गये थे?'... 'जानते तो हो तुम्हारी गैर-मौजूदगी में यहां भूचाल आ जाता है.' वह कब इन बातों को खबर रखता है... कैसे रख पाता है?

रात लेटते हैं तो उसके हाथ पिंडलियों को आ पकड़ते हैं. पहले 'न-नुकर' करते थे आदत के बंधे. यह सब उन्होंने बांटा है, कभी पाया नहीं... अब चुप रहते हैं. पिंडलियों और हाथों के बीच गायब होती जाती पीर की लहरों को महसूसते सो जाते हैं.

बीच रात अंधेरे को घूरती एक टकटकी जाग उठती है. कितना कुछ पीछे से दौड़ता आता एक गोला-सा बनकर छाती में गड़ जाता है... क्या किया उन्होंने सारी उमिर. जिनगी गला दी. किशना की मां भूखी-प्यासी गयी. न उसकी देह देखी न जीव. तीन-तीन बच्चे अबखने गिरे... वह कहां चेते. क्या सोचा करती होगी मरने से पहले?

दूर पड़ गयी बातें फड़फड़ाकर आती हैं और काटती चली जाती हैं—आरी की तरह. अब तक क्या किया?... मालिक की देहरी पर सिर झुका तो झुका ही रहा इसका क्लेश मन में नहीं है... सो तो ठीक, पर देहरी और सर के बीच एक काठ का शहतीर भी है, इस पर उनका ध्यान क्यों नहीं गया... क्यों नहीं!

महरी के लड़के को कोठरी के दरवाजे के बीचोंबीच देख ही उसका माथा ठनक गया. वह लंबी कमीज से अपनी बिना नेकर की टांगें ढांपे वहां बेफिक्र-सा बैठा था और बापू छटपटा रहे थे बेतरह.

दोपहर, पानी की भरी बाल्टी हाथ में लिए कुएं की चौकट पर से पैर फिसल गया था उनका. हल्दी-चने का लेप... गोंद की सेंक... तेल मालिश... कुछ काम नहीं आया. अस्पताल दिखाने गया तो भरती कर लिया गया. जरूरी था. दायीं जांघ की हड्डी टूटी थी और बायां घुटना चूर हुआ था. आपरेशन भी करना पड़ सकता है पर उसका फैसला एक बार का पलस्तर खुलने के बाद होगा, डाक्टर ने कहा था.

एक-दो दिन तो हवेली को बापू का न होना खूब अखरा. अब तक तो वहां के जर-जमीन को भी उनके तलुवों की आदत पड़ गयी थी... पर जल्दी ही यह आसन उसे सौंप दिया गया. बापू न होंगे तो उसे जुतना पड़ेगा, यह जानता था. फिर भी हर समय बापू की तरह घर के आंगन में हिरते-फिरते रहने का हौसला उसमें नहीं. कोठरी में बना रहता और बुलाये जाने पर काम में से खींच लिए जाने का अप्रिय भाव ओढ़ता हुआ हाजिर होता. मालकिन अनदेखा कर देतीं. पर तरुण बाबू... अब कोई बचाव नहीं था. अब किशना उनके ठीक सामने था—अपनी निरीहता में भी उनकी अयोग्यता को प्रखर से प्रखरतम कर देनेवाला दंश.

घर से चला तो आच्छन्न था. कपिलदेव की बल्लेबाजी के चित्रों के तकाजों के साथ लिपड़ती आती हिंसा की झुलसन. उसे लगा था कि गयी रात इतना समय व्यर्थ न जाता तो टेस्ट में और अच्छे नंबर आते. अस्पताल की ओर पैर रखते ही वह सारा क्षोभ तरोताजा हो आया. बापू और हवेली... उसके भीतर कहीं कुछ गडमड हो जाता है. वहां लपलपाती हिंसा के लिए दंड दे सकने का एकाधिकार यहां बापू के सामने आकर एकाएक उसके हाथ लग जाता है. पर बापू की इतनी प्रफुल्ल मुद्रा देखकर गुम हो रहा. वह उसे असाधारण उत्साह से भरे लगे. पिछले दो-तीन दिन तो नीम-बेहोशी और हड्डियां बिठाने की पीड़ा में लस्त-पस्त हुए रहे.

"सुनो बिटवा", उनका उत्साह अपने से बाहर बह रहा था... "यह जो चार नंबर का मरीज है न, इनका मामला तीन साल से कोर्ट में पड़ा है. मैंने कहा तुम आओगे तो सारा कागज-पत्तर कर दोगे..."

बापू ऐसे कह रहे थे जैसे वह कोई विद्यार्थी न होकर वकील हो और दुनिया में न्याय देने का एकाधिकार उसका हो...

ऐसा गर्व से दपदपाता चेहरा... उसका तनाव छूमंतर हो गया. वह स्टूल पर बैठ गया... बापू की दो अलग-अलग दिशाओं में घूमती आंखों को देखता. एक आंख उसको देखती थी, दूसरी उसके होने के असर को दूसरों पर.

बहुत-बहुत भला लगा उसे... बापू का उन छोरों से परे चल निकल आना, नहीं तो इन दिनों वह एक उसी सवाल को हाथ में थामे मिलते थे...

"मालिक कैसे हैं? उनसे मिलकर आये?"

"हां!"

"मालकिन से?"

"उनसे भी...!"

"कुछ कहा?" उनका चेहरा एक टकटकी बन जाता.

"नहीं!" पहले वह झड़प से सच कह देता था पर कितनी जल्दी बापू की आंखें धुआं-धुआं हो जातीं, चेहरा राख सना. बाद में वह खुद उस चेहरे के सामने से डरने लगा. तब तक तो बापू ने भी अपने जिज्ञासु हौसले को अपनी जेब में रखना सीख लिया था पर वह नहीं चाहता था कि अभागे मालिक की तरह उसके बापू का मन घायल हो.

अगले दिन वह आते समय अपनी जेब से आधा पाव अंगूर ले आया. बात चलाकर बोला, "आज मालिक तुम्हें पूछ रहे थे."

बापू खिल आये. उसके हाथ का लिफाफा झपटकर बोले, "मालकिन ने भेजा होगा?"

वह चुप रहा. एक-एक अंगूर बापू ऐसे खाने बैठे जैसे दाने-दाने में अमृतघट संचित हो.

वह परितृप्ति उसे भीतर कहीं छील गयी. हवेली से आये झोंकों के इतने आश्रित बापू? उस स्थिति को उसने छितरा देना चाहा. तड़पकर बोला, "यह मैं लाया हूं तुम्हारे लिए." और उस डोर को तोड़ दिया.

अस्पताल में यह जो बिस्तर भर स्वतंत्रता थी और उन दोनों के बीच का नरम-नरम आलोक, उसे वह संचित रखना चाहता था. हथेलियों की आड़ देकर... चाहे हथेलियां झुलस ही क्यों न जायें.

बापू यहां आराम में थे. दर्द की घड़ियों के अलावा परितृप्त. रोटी मिलती थी... फुर्सत और गप्प. आसपास के रोगियों के बीच अपनी उम्र की अधेड़ाई से पायी आधा गज ऊंचाई. शाम तक तो उनके पास बातों की एक पूरी पोटली जमा हो जाया करती थी जिसे वह उसके आते ही दस्तरखान की तरह बिछा देने को आतुर मिलते. अच्छा लगता था उसे.

बापू हवेली से कटकर कितना मुक्त हो गये थे. काली चौकट से फिसलकर कहीं और पहुंच गये थे—मनुष्यों, संबंधों, दुखों-दर्दों के सागर में अचूक तरीके से लपलपाती जीवन की लालसा के बीचोंबीच. कितना अचंभा... कितनी ललक... नयी चीजों के रूबरू होने का कितना लबालब आनंद... हर समय चाकरी का टोकरा उठाये रहनेवाले बापू को वह कितने नये चेहरों में देख रहा था. साथ वाली खाट पर पड़े युवक के पिता द्वारा खिलाने-पिलाने को देख वह भीग-भीग आते. रोज-रोज चर्चा करते. चर्चा उनके कौन से हिस्से को सेंकती है, जानता नहीं था क्या?

अस्पताल पहुंचा तो घिरा हुआ था—माथे के दायीं ओर छोटा-सा घाव. आंखें तनाव से बोझिल. चाहता तो टाल दे सकता था पर जरूरत नहीं समझी.

"क्यों रे?" बापू ने जैसे ही खखोला उसने उगल दिया. तरुण बाबू ने जो हुआ, वह तो बताया ही, जो नहीं हुआ वह भी बताया.

"तुम्हें नहीं मालूम, ऐसे अटेंडेंट बनाकर क्यों ले जाना चाहते थे मुझे. गोल्फ खेलते पीछे-पीछे दौड़ता आदमी उन्हें पालतू लगता है—उनका कुत्ता!"

"तुमने क्या कहा?"

"कहना क्या था. मैंने कहा, घर में मालिक पड़े हैं, अस्पताल में तुम पड़े हो, मैं नहीं जाऊंगा."

"फिर?"

"बोले, 'अस्पताल में सैकड़ों लोग पड़े हैं, मर तो नहीं जाते.' 'तरुण बाबू!' मैंने कड़ककर कहा. 'छोटे मालिक कह.' वह चिल्लाये और मेरे माथे पर ऐश-ट्रे दे मारी."

"हूं ऽऽ." बापू सोच में धंस गये... "मालकिन ने कुछ कहा?"

"कुछ नहीं. मुझे इशारा करके वहां से चले जाने को कहा."

"मैं कहता हूं, तू उसके मुंह क्यों लगता है?"

"मैं मुंह लगता हूं...? ...अभी तक तो नहीं लगता था... पर अब लगूंगा... ऐसी दुगा बच्चू को..."

"नहीं-नहीं", वह भयातं हो आये. "तुम जानते हो मालकिन, मालिक उससे बचते हैं, फिर तेरी क्या बिसात."

"जानता हूं. बचते हैं... क्योंकि बच सकते हैं."

बापू का चेहरा मलिन हो आया... कातर डरा हुआ... "न, न बिटवा, उनके लिए सारी जिनगी खपा दी, कभी पलटकर नहीं देखा... अब बुढ़ापे में..."

"तुमने जिंदगी खपा दी, पर मैं..."

क्षण भर चुप हो रहे... "हां, किशना, तुम... मे' क्या है, तुम्हारी ही तो बात है... तू जा... कहीं भी निकल जा... मैं तुम्हें नहीं रोकूंगा. तुम्हें कुछ भी नहीं कहूंगा. तू चला जा... मैं सच कहता हूं, कहीं भी चला जा... नौकरी ही करनी है तो कहीं कर लेना...

कहानी का जन्म

■ करतारसिंह दुग्गल

पंजाबी क्या, और हिंदी क्या, आजकल की कहानियों से प्रायः मुझे संतोष नहीं होता. इसका कारण यह नहीं कि नये कहानीकार में प्रतिभा नहीं है. जिस बात का अभाव मुझे खटकता है, वह है लगन और मेहनत. नया लेखक लिखता कम है, प्रोपगेंडा ज्यादा करता है. बेशक इस बात की लेखक को चिंता होनी चाहिए कि वह क्या लिख रहा है, क्यों लिख रहा है, किसके लिए लिख रहा है? किंतु यदि इसी वाद-विवाद में ही कहानी-लेखक अपना समय गंवा देगा, तो फिर वह कहानी कब लिखेगा? मेरा अनुभव है, जो लोग लिखते कम हैं, वे ही अपने-आपको इन पचड़ों में उलझाये रखते हैं.

... मैं कहानी केवल तब लिखता हूं, जब कहानी न लिखना असंभव हो जाये. एक क्षण आता है जब कहानी अपने-आपको जैसे लिखवाकर रहती है. जिंदगी का कोई चमत्कार, जीवन का कोई मूल्य, किसी पात्र में कोई विचित्रता, मुझे कचोटती है, फिर ये बीज भीतर-भीतर अंकुरित होने लगते हैं. फिर एक घड़ी आती है जब वह स्थूल कलेवर धारण कर लेते हैं. जैसे कि पक जाने पर फल आप ही आप गिर पड़ता है.

इसका मतलब यह नहीं कि हर कहानी के लिए मुझे महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ती है, कई कहानियों का स्फुरण इस तरह होता है कि वे तत्काल लिखी जाती हैं. हर कहानी अपना स्वरूप अपने साथ लाती है. कभी किसी पहले से तय की हुई तकनीक के सांचे में, मैंने अपनी कहानी को नहीं ढाला है. जिस तरह की घटना होती है, जिस तरह का वातावरण होता है, जिस तरह के पात्र होते हैं, उस तरह का जामा वे पहनते हैं. कहानियों की उम्दा तकनीक का मजा मैं दूसरों की लिखी कहानियों में लेता हूं. □

—प्र. चीज.

अपनी आंखों से... देख-समझकर... गांव में चला जा, ताऊ के पास... बुरे है तो क्या... अपना मारेगा तो छांह में तो फेंकेगा... तू यह सब नहीं सह सकेगा... वह छाती दूसरी थी... तेरी मां का मरना सह गयी... तेरा खूंटे से बंधना सह गयी... नहीं, नहीं... सोच किशना, सोच... जा यहीं से निकल जा..."

वह आपे में नहीं थे. एक विक्षिप्त उत्तेजना उनके सिर चढ़कर बोल रही थी.

"बस... बस करो बापू!" वह घबरा गया, "कहां चला जाऊं... पूंजी रखी है मेरे पास? ...कैसे चला जाऊं... तुम्हें छोड़कर... तुम तो सारी उम्र मालिक से किनारा नहीं कर सके और मैं तुम्हें छोड़ जाऊं... अपने बाप को? ...ऐसी हालत में... तुमने इतना नीच, इतना नालायक समझा है मुझे... !" कहकर वह बाहर लपक लिया. उसकी उखड़ी मर्राई आवाज सारी सांझ उनका पीछा करती रही.

एक आंधी उनके भीतर उफन रही है. इन सब दिनों का सुख-चैन किसी ने मुट्ठी में भींच दिया है. हाथ माथे पर जाता है जैसे वह रुई के फाहे के नीचे लपलपाता घाव किशना के नहीं उनके माथे पर आ चिपका हो. टांग ऊपर स्टैंड से बंधी है... पीठ में करवट न ले सकने की बेबसी... वह उन्हें याद नहीं रहता. यह रुपया भर माथे का घाव सुलगता है... लपटें छोड़ता है....

मन में चैन नहीं. मन हवेली में बिंधा हुआ... किशना... तरुण बाबू... मालकिन... मालिक. एक-एक चेहरा... एक-एक दृश्य साफ दिखता है उन्हें यहां लेटे-लेटे. कौन किससे क्या चाहता है... कौन किससे कैसा बर्ताव करता है. कौन मारता है... कौन सहता है. वे सबके खून का रंग जानते हैं... नस-नस पहचानते हैं. हवेली की दीवारें भी उनसे बोलती हैं. अब वहां से कुछ नहीं मिलने का... ईंटें ही ईंटें... बार ही बार... दीवारों का पलस्तर उघड़ रहा है. सब कुछ भरभराकर गिरेगा... अब दबेगा किशना... सिर्फ किशना.... उन्होंने उसे खूंटे से बांध रखा है... खुद खाट पर पड़े आराम भोगते हैं. खाते हैं... पीते हैं, बतियाते हैं... वह घर में बैठा चोटें खाता है. कराहें उठती हैं, मन की दीवारों पर बजती हैं धमाधम.

कुछ भी तो नहीं पता, वे कब खाट से उठेंगे... उठेंगे तो क्या पहले जैसी भागदौड़ हो पायेगी... न हो सकेगी तो कौन उन्हें ढोयेगा... हवेली में लपकती आती अंधी आग... किसे जलायेगी... किसे बचायेगी. वह कुछ नहीं कर पायेंगे... खाट पर पड़े-पड़े किशना के माथे की चोटें देखा करेंगे. तू चला क्यों नहीं जाता किशना... भाग क्यों नहीं जाता. तू कहता है तू मुझे छोड़कर कैसे जा सकता है... हां कैसे जा सकता है....

पर... पर... पर मैं तो तुम्हें छोड़कर जा सकता हूं... जा सकता हूं किशना.... सच कहता हूं, मैं जा सकता हूं बेखटके... संतोष के साथ... शांति के साथ... कपड़ा इधर से काटो या उधर से ...क्या फरक पड़ता है. दोनों छोर अलग हो जाते हैं. नहीं किशना नहीं... यह मरना नहीं मुक्ति है. मैं बीच से निकल गया तो सब कड़ियां अलग हो जायेंगी. एक दरवाजा बंद हो जायेगा. एक सिलसिला खत्म हो जायेगा....

अपने को वह उस भूमिका में सोचने लगते हैं—क्या हो सकता है. यहां बंधे-बंधे ... जमादार? ...फिनायल? ... चाकू? ... गले या कलाई की नसें... देखा जायेगा, फिलहाल तो किशना....

एक गद्गद उत्तेजना उनके मन में लहरा गयी. वह कुछ कर पायेंगे. किशना को उसका भविष्य दे पायेंगे. उन्होंने उसके लिए कुछ भी नहीं किया. न देखा, न भाला, न दुलारा, न संवारा... मालिक की पीठ पीछे उन्हें ढूंढ़ता-ढूंढ़ता अभागा इसी तरह बड़ा हो गया.... देखा जाये तो उनके पास देने को था ही क्या... एक अपना आप और दूसरा पसीने की गंध से लिखा हुआ गुलामी का इतिहास. इन दोनों में से एक ही चीज है जो वे किशना को दे सकते हैं.... कहीं तू भी तो इसे आत्महत्या नहीं समझेगा... नहीं समझेगा न बचवा. इस हत्या का पाप मुझे नहीं लगने का... नहीं, नहीं लगने का मेरे बचवा... तुम जान जाओगे... जरूर जान जाओगे. खूब सारा मोह मेरे मन में है... खूब, खूब. मोह-माया-ममता न होती तो यह सब क्यों...

राहत-सी हुई. जितना सोचते थे, उतनी ही चैन पड़ती थी. भय, ताप, बेचैनी कुछ भी नहीं. उतने मजबूर नहीं हैं जितना अपने आप को लगते थे... कुछ कर रहे हैं... कुछ तो कर पा रहे हैं?

मन कोमल है... हल्का है... प्रतीक्षा में है. किशना आया तो माथे की चोट देखकर इरादे फिर से हरे हो गये भीतर.

"आ जा यहां!" उन्होंने उसे प्यासी लालसा से देखा. खाट पर बिठाया. पीठ पर हाथ फेरा, फिर हाथ थामे लेटे रहे.

किशना इन सब स्पर्शों-संवादों से परे था, बोला, "बापू, मालकिन ने बुलाया था कल रात... बहुत देर बातें करती रही..."

वह हैं कि कुछ भी सुन नहीं रहे हैं... बस देख रहे हैं उसे. जी में आ रहा है... बुक्का मारकर रो पड़ें... उसे छाती से बांध लें और वैसे बंधे-बंधे अपने मरने की कामना करें. उस विकट इच्छा को लेकर मरें तो फिर उसी में जनमेंगे... आगे-आगे तक यह हिसाब चलता रहेगा...

"सुना नहीं बापू?"

"हां, क्या कहती थी मालकिन?"

वह चकित है. वह पहलेवाली हवेली के नाम से चट उठ बैठने की बापू की उतावली... कहां गयी? बापू कहां खोये हैं? सारे रास्ते वह क्या कुछ सोचता आया था. यह सब बातें कितनी नयी हैं... बापू की आंखों में आंसू ला देनेवाली. मालकिन ने कहा था—तरुण बाबू ने गलत किया है... तुम्हें मारा है... वह मूर्ख है, अल्हड़ है... ठीक हो जायेगा ...न हो जायेगा तो सब तुम्हारे बापू की तरह किस्मतवाले तो नहीं होते ... तू सयाना है, समझदार है किशना... भूल जा. तुझ पर इस समय सब का भार है. मेरा... मालिक का... तुम्हारा... घर का. कहती थीं वह सब जानती हैं... समझती हैं. कालेज की फीस मुंशी के हाथ भिजवा दी है... कुछ दिन छुट्टी की अर्जी भी दिलवा दी है. कहती थी... उन्हें मुझ पर भरोसा है... तरुण बाबू से भी ज्यादा भरोसा...

"तुम सुनते क्यों नहीं बापू?" वह झल्लाया.

"सुन रहा हूं... सिर्फ तुम्हें ही सुन रहा हूं."

"मालकिन ने कहा, उन्हें मुझ पर बहुत भरोसा है... तरुण बाबू से भी ज्यादा... तुम्हारे बाद मुझ पर... सिर्फ मुझ पर..."

"तुम क्या सोचते हो?"

"सोचूंगा क्या... भरोसा है तो ठीक है. मैं कौन उस भरोसे को तोड़ देनेवाला हूं. पर मैं सच कहता हूं, बापू, मैं इस ममता-वमता के चक्कर में नहीं आने वाला. वह मुझे बांध रही है तुम्हारी तरह. मैं नहीं बंधनेवाला. तुम्हारे लिए मैं यहां बैठा हूं... सिर्फ तुम्हारे लिए... तुम जब तक चंगे नहीं हो जाओगे, तब तक बैठा रहूंगा. जो कहोगे, करूंगा, जैसे रखोगे रहूंगा, पर यह जान लो, मैं तुम्हें उस जालिम के हाथ नहीं छोड़ने का... तुम्हें साथ लेकर जाऊंगा... तुमने अब तक मुझे बांध कर रखा है, मैं अब तुम्हें बांधकर रखूंगा... छोड़ूंगा नहीं... चलोगे न बापू? ... तुमने आज तक कभी मेरी बात नहीं मानी ... कभी मेरा मन नहीं रखा... इस बार... एक बार..."

उन्होंने किशना का हाथ छाती पर रख रखा था. होंठ फड़फड़ा रहे थे. आंखें बंद थीं और कोरों से पानी बहता चला आ रहा था—छलाछल.

□

● एम-16, साकेत, नयी दिल्ली-110017

सर्वशक्तिमान

बटरोही

जिंदगी में हमारा साबका कभी न कभी संयोगों से अवश्य पड़ता है. यह बात दूसरी है कि हम इन संयोगों को कहानी की तरह अयथार्थ मानते हुए कुछ देर चौंककर भूल जाते हैं... मगर संयोगों और कहानी के वास्तविक अंत से बच पाना भी कभी संभव हुआ है भला! .. प्रस्तुत है कथाकार-समीक्षक बटरोही की एक कहानी जो हमें इस प्रश्न पर सोचने को मजबूर करती है.

आपको ऐसा नहीं लगता कि आज की इस आपाधापी और औद्योगीकरण की अंधी दौड़ में हमारा संबंध प्रकृति से लगातार छूटता चल जा रहा है. अब देखिये न, हम में कई लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने बया का घोंसला ही नहीं देखा है. बया को पक्षियों का इंजीनियर माना गया है जैसे देवताओं का इंजीनियर मय है. हालांकि हमने कभी मय को अपने अभियांत्रिकी कौशल के साथ देखा नहीं है; हम सिर्फ इतना-भर अंदाज लगा सकते हैं कि जिस व्यक्ति ने इतना विशाल ब्रह्मांड रचा होगा, वह कोई विशाल-विराट् मस्तिष्क ही रहा होगा. संभव है कि वह हमारी-आपकी तरह का कोई देहयुक्त प्राणी न हो, सिर्फ दिमाग हो! दिमाग के मूर्त रूप की कल्पना क्या की जा सकती है? कल्पना कीजिए, सिर्फ एक दिमाग है, जो ब्रह्मांड से भी बड़ा है या जिसमें संपूर्ण ब्रह्मांड समाया हुआ है! मय की हम सिर्फ कल्पना कर सकते हैं, मगर बया को तो देख सकते हैं. गौरैया के आकार और रंग का यह पक्षी, जिसका माथा पीला और चमकीला होता है, एक साक्षात् जीवधारी है जिसे हम लोग रोज देखते हैं मगर उसके माथे पर तकनीकी कौशल का स्वर्णाभ आलोक हमें कभी आकर्षित नहीं करता. अब तो कोई भी पशु-पक्षी आकर्षित नहीं करता. रोजी-रोटी, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मसलों और घर-आफिस की भागदौड़ हमें फुरसत ही कहां देती है?

वसंत ऋतु आते ही दस-दस बारह-बारह की टोली में नर बया अपना घर बसाने की चिंता में सुदूर जंगलों की ओर उड़ते हैं और वहां से सुंदर पीले लंबे-लंबे घास के तिनके लाकर किसी पेड़ की ऊंची डाल पर अपना घोंसला बनाते हैं. लंबे आकार के खूबसूरत घोंसले जब बनकर तैयार हो जाते हैं तो सारे नर बया किसी एक पेड़ पर बैठे मादा बया को बुलाने के लिए कूकते हैं. नर बया के आमंत्रण संगीत

को सुनकर मादा बया आती है और घोंसलों में से किसी एक को चुन लेती है. एक घोंसला पसंद नहीं आता तो दूसरे में जाती है और कोई भी पसंद नहीं आता तो वापस उड़ जाती है. मादा बया के घोंसले में बैठ जाने के बाद नर बया अपने-अपने बनाये घोंसलों में जाते हैं. वहां अपनी-अपनी प्रेयसी के साथ प्रेमालाप करते हैं और जब मादा बया गर्भिणी हो जाती है तो नर बया फिर से दूसरा घोंसला बनाने में जुट जाते हैं. फिर से मादा को आमंत्रित करते हैं और फिर से अपना एक परिवार बनाकर पुनः घोंसला बनाते हैं. वर्षा ऋतु के आगमन तक यह सिलसिला चलता रहता है और एक सीजन में एक नर बया अपनी करीब आधा दर्जन प्रेयसियों का पति और लगभग डेढ़-दो दर्जन बया-शिशुओं का पिता बनता है.

इंजीनियर बया ! कितना साम्य है उसका मय और इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल से. मय की तरह वह सृष्टि का निर्माण भी करता है और इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल की तरह सुंदर-मजबूत घर भी बनाता है !

दरअसल, यह कहानी बया पक्षी की नहीं, इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल की है. अभी तक तो मैंने सिर्फ भूमिका लिखी है. कहानी में यद्यपि भूमिका नहीं होती,मगर आज जब कि हम कहानी वाली जिंदगी से बेहद-बेहद दूर भागते चले गये हैं. . . इस तरह की भूमिका एक विवशता भरी जरूरत बन गयी है. इस भूमिका का अर्थ यह न समझा जाय कि चूंकि कहानी का नायक इंजीनियर है इसलिए बया की कथा जानबूझकर आप लोगों पर आरोपित की गयी है. कहानी में संयोग कुछ होता नहीं.हां, हम लोग अपनी-अपनी कोटरों में बैठे हुए जरूर कभी-कभी घटनाओं को संयोग मान लेते हैं. हम आज अपने अलावा किसी और को प्रमाण मानने के लिए तैयार नहीं हैं और इतनी बड़ी सृष्टि की सारी घटनाएं एक आदमी का प्रमाण भला हो भी कैसे सकती हैं ?

आइये, इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल से आपको मिलायें.प्रवेश का व्यक्तित्व इंजीनियर की तरह का कतई नहीं लगता. बेहद भावुक और बाहर से आदर्शवादी दिखाई देने वाला प्रवेश दुनियादारी में किसी से कम नहीं है. इंजीनियर समुदाय के बीच फैले भ्रष्टाचार का वह सख्त विरोधी है और समय-समय पर अपने व्याख्यानों और बातचीत में इस ओर इशारा करता रहता है. हालांकि उसे रिश्वत और भेंट-उपहार लेने में कोई ऐतराज नहीं होता क्योंकि वह मानता है कि भ्रष्ट समाज में किसी एक आदमी की ईमानदारी कोई अर्थ नहीं रखती. वह सिर्फ उसे ही कुचलती है. ऐसा आदमी समाज के लिए आदर्श कभी नहीं बनता. आदर्श व्यवहार की चीज नहीं, सिद्धांत की चीज है और इसी रूप में अच्छी भी लगती है. लंबी-चौड़ी कद-काठी का प्रवेश खूबसूरत है और अपनी नीली आंखों के कारण छात्र जीवन में लड़कियों का चहेता रहा है. इन्हीं आंखों के कारण उसने सुमन को अपनी ओर आकृष्ट किया था, मगर जब सुमन की शादी उसी के सगे भाई मेजर कालेशचंद्र कौसवाल से तय हो गयी तो उसने अपनी नीली आंखें वापस ले लीं और चीफ इंजीनियर साहब की चंचल-खूबसूरत लड़की विभा से शादी कर ली. विभा भी प्रवेश की नीली आंखों पर फिदा थी और जब भी उसे प्यार उमड़ता वह सबसे पहले प्रवेश की आंखें ही चूमती.

इसके बाद जो घटना हुई, उसे आप एक अविश्वसनीय संयोग कहेंगे मगर मैं सिर्फ आपको विश्वास दिला सकता हूं कि मेरे तईं यह संयोग नहीं था, आंखों देखी घटना है. इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल आजकल प्रसूति अवकाश में है. जी नहीं, उसका नहीं, विभा का भी नहीं, उसकी भाभी सुमन का एक फूल-सा प्यारा-प्यारा बेटा हुआ है. नीली आंखों और अंडाकार चेहरे वाले इस बच्चे को प्रवेश बेहद प्यार करता है. कालेशचंद्र कौसवाल आजकल लैफ्टिनेंट कर्नल के पद पर सीमा पर कार्यरत है इसलिए पिछले दो-ढाई वर्षों से सुमन अपने देवर-देवरानी के साथ ही है. कर्नल को भाई के परिवार पर पूरा भरोसा है इसलिए वह बच्चा हो चुकने के महीने भर तक भी जब नहीं आ सका तो उसने कोई चिंता अनुभव नहीं की. इंजीनियर प्रवेशचंद्र ने सुमन के बच्चा होने के दिन से ही अवकाश ले लिया था. यद्यपि आज के जमाने में बच्चा होने जैसे मामूली काम के लिए एक इंजीनियर को छुट्टी लेने की जरूरत नहीं होती. बच्चा क्या, किसी भी काम के लिए इंजीनियर को छुट्टी की क्या जरूरत ? आम आदमियों को आप कहते हुए सुनते ही होंगे—छुट्टी और वेतन—ये दो शब्द तो इंजीनियर की जुबान पर कभी आते ही नहीं. मगर इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल की बात फर्क है.वह एक आदर्शवादी व्यक्ति है और नियम कानून से बाहर कभी कोई कदम नहीं उठाता. घर के तीनों नौकरों को उसके सहायक ओवरसियर ने मस्टर रोल पर चढ़ाकर जिले की किसी सड़क पर मजदूर दिखाया हुआ है और बाहरी रुपये-पैसे का सारा हिसाब-किताब विभा के साथ होता है. प्रवेश को इन बातों में कोई भी रुचि नहीं है.उसका अपना कोई खर्च नहीं है.शराब से उसे परहेज नहीं है लेकिन उसका आदी भी नहीं. पाइप जरूर पीता है मगर हर सवेरे उसके कमरे में उम्दा किस्म के तंबाकू का पैकेट मौजूद रहता है.

एक छोटी-सी जिज्ञासा और रह जाती है. आखिर ये प्रवेश के प्रसूति अवकाश का क्या चक्कर है ? प्रवेश ने छुट्टी तो प्रसूति अवकाश के नाम पर नहीं ली है, पुरुषों को इस प्रकार के अवकाश का कोई प्रावधान भी नहीं है. मगर, अवकाश जो भी उसने लिया हो, उसका ज्यादातर समय सुमन के साथ बच्चे को खिलाने में बीतता है. लगता है कि उसने छुट्टियां सिर्फ इसी काम के लिए ली हैं. वास्तव में क्यों ली हैं, ये तो सुमन या प्रवेश ही जान सकते हैं; हो सकता है कि विभा भी जानती हो, मगर आपको विश्वास दिलाता हूं कि इस भावना को पकड़ना इस मध्यवर्गीय कहानीकार के वश का नहीं है. प्रवेश की सात और तीन साल की दो बेहद खूबसूरत बच्चियां हैं. बड़ी लड़की अपने बाप पर ही गयी है. उसकी भी आंखें नीली हैं और नाक नक्श बेहद तराशा हुआ. एक आया शुरू से ही उनकी देखभाल में रखी गयी है. प्रवेश और सुमन दोनों ही का कहना है कि परिवार में दो लड़कियों के बाद लड़का आया है इसलिए किसी तरह की कोई कमी नहीं रहनी चाहिए. लड़के के लिए मां-बाप की निकटता कहीं ज्यादा जरूरी है, वरना आज के नौजवानों की तरह वह भी विद्रोही पीढ़ी का अंग न बन जाये. घर में एक लड़का है, उसे संतुलित और विशिष्ट व्यक्तित्व वाला होना ही चाहिए. लड़कियों से कभी कोई खतरा नहीं है क्योंकि वे कभी सीमा से बाहर नहीं जातीं. घर-परिवार में उनका दायरा रसोई तक सीमित है तो बाहर निकलने पर भी भावनात्मक स्तर पर परिवार नैतिकता और समाज को अतीत के सहारे ही बनाने तक उनकी दृष्टि जा सकती है.

"तुम्हें मालूम है भाभी, बया पक्षी के बारे में," करीब दो साल पहले एक दिन प्रवेश ने सुमन से कहा था, "फीमेल की अपनी खास रुचियां होती हैं. उससे इधर-उधर वह कभी जा ही नहीं सकती. बहकना तो औरतों की बेसिक इंस्टिंक्ट में कहीं है ही नहीं. पता नहीं, किस बेवकूफ ने कह दिया कि औरत भावना की और पुरुष यथार्थ का प्रतीक है. जबकि है एकदम इसका उल्टा. पुरुष भावना के दबाव में न जाने कितनी गल्तियां करता है जबकि औरत हमेशा यथार्थवादी रहती है. अब देखो न, नर बया जब मादा को अपनी ओर आकर्षित करता है तो मादा बया पूरी तरह ठोक-पीट कर अपना घर चुनती है. जरा भी उसे घर पसंद नहीं आता तो वह वापस उड़ जाती है. नर बया के भावुकतापूर्ण प्रेमालाप का उसके लिए कोई अर्थ ही नहीं है."

"पुरुष प्रेम करना जानता ही कहां है ? प्रेम उसके लिए सिर्फ सेक्स तक सीमित है," सुमन ने कहा, "प्रेम का जो सबसे आसान और भावुकता वाला टुकड़ा है,उसे निभाकर पुरुष तो अलग हो जाता है, जब कि उसके जितने भी पवित्र और तकलीफदेह रूप हैं, उसे तो औरत ही निभाती है. और इस निभाने के लिए उसे अपनी सारी जिंदगी दांव पर लगानी पड़ती है. यूं तो, पुरुष ने तो अपना स्वार्थ सिद्ध किया और नर बया की तरह फुर्र से उड़ गया दूसरे दिन की भूख मिटाने के लिए. पुरुष में न तो भावना होती है और न यथार्थ. सच तो यह है कि जहां भावना होगी, यथार्थ वहीं हो सकता है; जहां यथार्थ ही नहीं है, भावना कैसे आ सकती है ? हम लोग यहां पर हैं इसी यथार्थ के तहत तो एक भावना से जुड़े हैं."

"मैं तुमसे सहमत नहीं हूं. जिसे तुम भावना कह रही हो, वह किसी मजबूरी के कारण भी हो सकता है. अब भाई साहब को ही लो. उन्हें नौकरी करनी है तो तुम्हें कुछ समय तक अकेला रहना ही पड़ेगा. उनका यह अलग रहना भागना नहीं है, मजबूरी है और इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारे प्रति उनके मन में कोई भावना नहीं है."

"अपनी बात करो, भाई साहब की नहीं, आदमी सिर्फ अपने बारे में जानता है. अगर तुम्हारा इशारा मेरी ओर है तो मैं तुम्हें याद दिला दूं कि तुम में न भावना है और न जिंदगी से लड़ने की शक्ति." सुमन नजरें नीची किये ही सोफे पर नाखून कुरेदते हुए बोली, "जो तुम ये सोचते हो कि जिंदगी की सारी खुशियां तुम्हें घर बैठे मिलती चली जायेंगी, ऐसा कभी होता नहीं. तुम्हें रोका किसने था ? पकड़ते मेरा हाथ और ले आते अपने साथ. दुनिया तो बहुत बड़ी चीज है, एक घर-परिवार बनाने के लिए भी बहुत कुछ खोना पड़ता है. अनेक चीजों का मोह त्यागना पड़ता है."

"नहीं-नहीं, मेरा मतलब यह नहीं था. मैं तो. . ."

"आदर्श की बातें कर रहे थे न ! और आदर्श सिर्फ सिद्धांत में अच्छा लगता है, व्यवहार में नहीं. अगर मैं ये कहूं कि आदर्श बनाया ही व्यवहार के लिए गया है तो ? कोरे सिद्धांत तक सीमित आदर्श क्या नपुंसकता नहीं. . ."

नीली आंखों वाले इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल का चेहरा भी नीला पड़ गया जैसे पूरा चेहरा सिमटते-सिमटते एक खोखला आकार बन गया हो! उसके हाथों में हरकत हुई और वे शर्म और पश्चाताप में डूबे हुए से सोफे की ओर बढ़े मगर सोफे को कुरेदती सुमन की अंगुलियां सख्त हो गयीं. जैसे अभी-अभी वे अंगुलियां किसी के गाल पर चटाक से पड़ेंगी और उनके पांचों निशान गाल पर साफ-साफ उभरे हुए दिखाई देंगे. भावना यथार्थ में बदल जायेगी और यथार्थ भावुकता में टप-टप आंसू बहायेगा.

इस बीच जो कुछ हुआ, वह सब एक हिंदुस्तानी मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिए वर्जित माना गया है. कहानीकार भी समाज के नियमों से अलग नहीं होता इसलिए उसे ऐसी सारी बातें प्रतीकों के जरिये कहनी पड़ती हैं. कहानीकार की दिक्कत है कि वह प्रतीक को नंगा नहीं कर सकता जब कि पाठक समझता है कि प्रतीक के जरिये अपने आपको नंगा करके दिखाने का अच्छा तरीका निकाला है कहानीकार ने ! और इस तरह प्रवेश और सुमन की कहानी का हिस्सा यहीं खत्म हुआ.

विभा और प्रवेश के बेडरूम में कई दिनों से रात के वक्त एक चूहा खुले आम दौड़ता दिखाई देने लगा था. इतने साफ सुथरे मकान और हर तरह की हिफाजत से संवारे गये कमरे में चूहे का आ जाना आश्चर्यजनक जरूर था; मगर चूहा चूहा ही है, वह आदमी के कायदे-कानून क्या जाने ? कहीं से भटकता हुआ आ गया होगा और यहीं कहीं कतरब्योंत के लिए उसे माल मिल गया होगा. मकान काफी पुराना था, मगर समय-समय पर उसकी सफाई और मरम्मत इस तरह से की गयी थी, लगता था, उन्नीसवीं सदी के डिजाइन का मकान पिछले ही वर्ष बनाया गया है. चूहा भी कोई चुहियानुमा छोटा-मोटा नहीं, अच्छा-खासा बड़ा, मोटा ताजा था.किसी भी प्राणी के आम आकार से छोटी या बड़ी चीज हमेशा भय पैदा करती है.यही हाल विभा का हुआ. जिस दिन से चूहा दिखायी दिया, रात की रही-सही नींद भी गायब हो गयी. आंख खोलती तो कभी ड्रेसिंग टेबल के पास से सर्र-से गुजरता हुआ

● बटरोही

दिखायी देता और कभी वार्डरोब के पीछे से अपनी लंबी थूथन निकाले. आंखें बंद करती तो देखे गये चूहे से ही बड़े आकार का चूहा सारे दिमाग में फैल जाता और दिमाग फटने-फटने को हो जाता.

प्रवेश को बिजली के प्रकाश में नींद न आने का रोग था. विभा की हालत देखकर, मन मारकर बैडस्विच ऑन रखा गया. जीरो पावर के बल्ब के उजाले का चूहे पर कोई असर नहीं हुआ तो पच्चीस वाट का मिल्की बल्ब लगवाया गया. एक दिन तीनों अरदली चिमटा, प्लास, हथौड़ा और लोहे की छड़ लेकर पूरे दिन भर सारे कमरे की सफाई करते रहे. आसपास के छोटे-बड़े सारे छेद मिस्त्री बुलाकर बंद करवाये गये. कोशिश की गयी कि हवा तक कमरे में न घुसने पाये मगर न चूहा मिला और न उसका बिल. प्रवेश फिर से बिजली बंद कर खर्राटे लेने लगा मगर अगली रात फिर दीवार के दाहिने कोने से अपनी लंबी थूथन मटकाता हुआ चूहा सर्र से दूसरे कोने की ओर भागता विभा को दिखायी दिया.

आखिर विभा की सारी खीज प्रवेश पर निकली, "मर्द होकर तुम एक छोटे निरीह से चूहे को नहीं पकड़ पा रहे हो? इतने सारे भारी-भरकम मकान और सड़कें बनवाते हो और चूहे के बिल का पता नहीं लगा पा रहे ! धिक्कार है तुम्हें !"

प्रवेशचंद्र कौसवाल जैसे विचारशील सीनियर इंजीनियर पर इस तरह की घरेलू टाइप बातों का असर पड़ना तो नहीं चाहिए था, मगर एकाएक उसका पौरुष जैसे जाग उठा. दिमाग के किसी कोने में उसे अहसास हुआ कि हर औरत उसे पुरुषत्वहीन समझती है जबकि वह खुद को पौरुष से पूरी तरह भरापूरा मानता है. मन ही मन उसने अपने-आपको लानत दी. बाकी टीम लोग उसे चाहे जो कहें, थोड़ी देर के लिए समझ में आ सकता है, मगर उसकी ब्याहता बीवी भी दो-दो बच्चे हो चुकने के बाद उसके पौरुष पर संदेह करे, उसे डूब मर जाने की बात लगी.

"चूहा मारने में क्या बहादुरी दिखानी है बेगम ? एक निरीह प्राणी को आपने मार भी डाला तो कौन-सा तीर मार डाला ? दो-चार दिन दिखायी देगा, किसी दिन खुद ही निकल जायेगा. कहीं किसी जगह फंस गया होगा. अब एक चूहे के लिए सारी रात बरबाद करो, हमारी तो समझ में नहीं आता."

"आपको लगता होगा चूहा मामूली. जिस ढंग से उसने हमारी नींद हराम कर दी है, हमें तो वह शेर से भी ज्यादा खतरनाक लग रहा है. रात को यों ही नींद नहीं आती थी. इस मरे ने तो पूरी तरह हराम कर दी है नींद. स्लीपिंग पिल्स भी अब असर नहीं करतीं."

"तो क्या करूं, तलवार लेकर पहरा दूं रात भर एक चूहे के लिए ? बैठकर एक प्रोजेक्ट रिपोर्ट तैयार करूं चूहे के बिल पर या किसी ठेकेदार को चूहे का पता लगाने का ठेका दूं ? एकदम बच्चों की जैसी बातें करती हो तुम भी !"

"हमारी बातें तो बच्चों की जैसी ही लगेंगी आपको. एक आलतू-फालतू बच्चे से ज्यादा आपने हमको समझा ही कब है? मन हुआ तो बहला

कलाकार की जरूरत : हुसैन

कलाकार की प्रवृत्ति स्वच्छंद होती है. उस पर किसी प्रकार का बंधन या निषेध लगाना उचित नहीं कहा जा सकता. और फिर कलाकार किसी बंधन में बंधकर श्रेष्ठ कलाकृति का निर्माण नहीं कर सकता. उसे तो खुले और निर्बाध वातावरण की जरूरत होती है. खुली जमीन पर ही वह अपना सृजन जारी रख सकता है. अनावश्यक राजकीय हस्तक्षेप से कलाकार कुंठित हो सकता है. □

लिया अपना मन, बाकी खर्राटे लेते हुए सोते रहे रात भर. दिन भर भाभी-भतीजे के साथ बिताया. भाभी नहीं हो गयी. . . ." विभा की रुलाई एकाएक फूट पड़ी.

"अरे भाई, इतने दिनों बाद घर में एक लड़का हुआ है. मन को अच्छा लगता है उसके पास रहकर. हमारे ही घर का बच्चा है. भाई साहब घर पर हैं नहीं, हमारा फर्ज बनता है कि नहीं. . ."

"आप तो ऐसे बात कर रहे हैं जैसे वह आपका भतीजा नहीं, सगा बेटा हो. ऐसा ही प्यार है बेटे से तो अपने बेटे के लिए कोशिश क्यों नहीं करते. . ."

"विभा. . ." एकाएक दहाड़ उठा इंजीनियर प्रवेशचंद्र कौसवाल. समझ में नहीं आया कि आगे क्या कहे ? पलंग के सिरहाने खोंसे गये मच्छरदानी के डंडे को उसने झटके से निकाला और उठकर कमरे के कोने की ओर लपका. तेजी से एक चोट दीवार पर मारी और डंडे की झन्नाहट से हथेली बुरी तरह झनझना उठी. दीवार के पलस्तर पर एक भद्दी-सी खरोंच उभर आयी.

रात भर उस दिन प्रवेश चूहे की प्रतीक्षा करता रहा. जगह-जगह दीवार और छत के कोनों पर डंडे से कोंचता रहा, मगर चूहा नहीं मिला. एक पल के लिए भी उस रात चूहा नहीं दिखायी दिया. न प्रवेश को और न विभा को.

"लो, मैं कह रहा था नहीं, चूहा अपने आप चला जायेगा. किसी वजह से कमरे में फंस गया होगा, अब रास्ता मिला तो खुद ही रफूचक्कर हो गया."

दो-तीन दिन बाद ही रात के वक्त विभा एकाएक चीखी. प्रवेश अचकचाया हुआ-सा उठा तो पागलों की तरह विभा चिल्ला रही थी, "चूहा-चूहा, वही चूहा फिर भागा है, वार्डरोब के नीचे से. ओफ, कैसा भयानक चूहा है. . ." विभा पसीने से लथपथ दिखायी दे रही थी.

भय और असहायता जैसे विभा के चेहरे के रूप में साक्षात मूर्तिमान हो उठी थी. ड्रेसिंग टेबल के पास रखे हुए टूल बाक्स से प्रवेश ने हथौड़ा और प्लास निकाला और वार्डरोब के पास जाकर मोर्चा संभाल लिया.

वार्डरोब के दोनों किनारों पर उसने हथौड़े के डंडे से कुरेदा. ऊपर छत की ओर कोने में प्लास से उधर-उधर खरोंचें लगायीं मगर कहीं न कोई छेद दिखायी दिया और न किसी तरह का कोई रास्ता. बाथरूम का दरवाजा जोर से अंदर की ओर दबाया. सोचा, शायद वह अधखुला न रह गया हो, मगर वह अच्छी तरह बंद था. दरवाजे के खांचों को बारीकी से जांचा, वहां भी किसी तरह का कोई रास्ता नहीं नजर आया.

"बेकार में भ्रम हो गया है तुमको," प्लास और हथौड़ी टूल बॉक्स में पटकते हुए प्रवेश झल्लाया, "कमरा पूरी तरह साफ कर दिया गया था. एक-एक हिस्सा प्लास्टर कर दिया था चूहा भूत है कोई जो हवा के साथ उड़कर आ जायेगा. सपना देखा होगा तुमने कोई. चूहे का भूत सवार है तुम्हारे दिमाग में. सो जाओ, कोई चूहा-चूहा नहीं है."

"मैंने सचमुच का चूहा देखा है ; आप यकीन क्यों नहीं कर रहे ? अपनी आंखों से वार्डरोब की तरफ भागते हुए देखा उसे. मुझे अपनी आंखों पर पूरा भरोसा है."

"देखा है तो गया कहां ? एक-एक कोना मैं अच्छी तरह देख चुका हूं. चूहा नहीं हो गया, अलादीन का चिराग हो गया. . . " एकाएक प्रवेश को लगा वार्डरोब के कोने पर चूहे की थूथन दिखाई दे रही है. इशारे से उसने विभा को चुप रहने के लिए कहा और बिना किसी आवाज के टूल बाक्स से प्लास और हथौड़ी उठायी. दबे कदमों से वार्डरोब के पास गया. थूथन थोड़ा और निकल चुकी थी. वार्डरोब की ओट में खड़े-खड़े प्रवेश ने मोर्चा संभाला और प्लास को अपनी बांये हाथ की अंगुलियों में फंसाकर दांये हाथ की अंगुलियों के बीच हथौड़ा कसा. चूहे की गर्दन जब बाहर को निकल चुकी तो बिजली की-सी तेजी में उसके गले पर प्लास दबाया प्रवेश ने और उसकी गर्दन दबोच ली. उसी तेजी से हथौड़े से चूहे के सिर पर दे मारा. 'कच्चा . . .' की आवाज के साथ चूहे का सिर मोजेक पर बिखर गया.

विजय और उल्लास की भावना के साथ इंजीनियर प्रवेशचंद कौसवाल ने प्लास में जकड़ी हुई चूहे की गर्दन उठायी और अपनी नीली आंखों में सर्वशक्तिमान की-सी अपराजेय भावना भरते हुए उसे विभा की आंखों के आगे टांग दिया. झटके से पीछे हटते हुए विभा जोर से चिल्लायी, "छोड़ दो . . . इसे! ओ माइ. . . कितने क्रूर हो तुम . . ." विभा को लगा जैसे उसे अभी उल्टी हो जायेगी. तेजी से उसने चादर अपने सिर पर खींच ली.

प्रवेश हालांकि अट्टहास नहीं कर रहा था, मगर जिस ढंग से वह प्लास से चूहा लटकाये बाथरूम की ओर बढ़ा, ऐसा लगा मानो किसी विख्यात पहलवान को पछाड़कर अट्टहास करता हुआ वह अपने हाथों में उसकी गर्दन लटकाये हुए दर्शकों को दिखा रहा है.

कहानी यहीं पर खत्म हो जानी चाहिए थी, मगर ऐसा होता नहीं. बहुत बार लगता है कि आदमी प्रकृति और उसके नियमों के सामने एकदम विवश हो जाता है. पता नहीं ऐसी बातें संयोग होती हैं या नहीं, मगर हम चाहे कितने ही यथार्थवादी क्यों न हों, जिंदगी में हमारा साबका कभी-न-कभी संयोगों से अवश्य पड़ता है. यह बात दूसरी है कि हम इन संयोगों को कहानी की तरह अयथार्थ मानते हुए, कुछ देर चौंककर भूल जाते हैं. मगर जैसे संयोगों से हम बच नहीं सकते, कहानी के वास्तविक अंत से कैसे बच सकते हैं ? वह तो अपने ढंग से खत्म होकर ही रहेगी. लेखक का उसमें कोई वश नहीं.

करीब दस-पंद्रह दिन के बाद रात के वक्त एक दिन यों ही वार्डरोब के पास कुछ कपड़े सहेज रही थी विभा कि उसे बदबू-सी महसूस हुई. पहले यों ही इधर-उधर देखा, कुछ नजर नहीं आया, मगर जब टार्च के प्रकाश में झांका तो लगा कि वार्डरोब और दीवार के बीच कोई पीली-सी चीज चमक रही है.

"अरे, बया का घोंसला. . ." विभा विस्मय के साथ चीखी, "वार्डरोब के पीछे बया का घोंसला कहां से आ गया ?"

"तुम्हारा तो दिमाग खराब हो गया है." प्रवेश सोते-सोते झल्लाया, "तुम्हारे कमरे में बया क्या यहां आ जायेगी घोंसला बनाने ? . . ."

"अरे, मैं सच कह रही हूं. एकदम बया का घोंसला है ये !" मच्छरदानी का डंडा खींचकर उसने घोंसले को किनारे से अपनी ओर खींचा तो तिरछे पड़े हुए बया के घोंसले की शक्ल में एक पीला कपड़ा बाहर निकला.

"ओह, ये तो कपड़ा है. लेकिन इस कपड़े का घोंसला बनाकर किसने डाल दिया है यहां?"

खीजता हुआ प्रवेश वहां पहुंचा. "तुम्हें तो बस एक-से-एक करिश्मे दिखाई देते हैं. कभी बया का घोंसला तो कभी चूहे का जिन. अब तुम जागते हुए भी सपने देखने लगी हो. . ." मगर पास पहुंचा तो खुद भी चकराया, "अरे, ये तो बेटे का ऊनी सूट है. यहां किसने फेंका इसे? . . ." उठाकर झाड़ा प्रवेश ने उसे तो ढेर सारे नवजात चूहे के बच्चे, जो सूखकर लकड़ी की तरह सख्त हो चुके थे, फर्श पर छितरा गये. □

● एम. आर. काटेज, तल्लीताल, नैनीताल-263002 (उ. प्र.)

किरचों पर सजा इंद्रधनुष

नमिता सिंह

कभी आपने खयाल किया होगा कि आपके शहर के अंदर एक और शहर बसा है. ठीक वैसे ही जैसे हर आदमी के भीतर एक और आदमी होता है. एक रंग के भीतर झलकता हुआ दूसरा रंग होता है. बाहर से देखते हुए भीतर का अंदाजा लगा पाना हमेशा आसान नहीं होता.

कभी-कभी सब कुछ आंखों के सामने इतना नजदीक होता है कि कुछ स्पष्ट नहीं दीखता. एक ही जिंदगी, लेकिन अलग-अलग आंखों में उसका रंग अलग होता है. बहुरूपदर्शी कैलिडोस्कोप की तरह, जो किरचों के ऊपर इंद्रधनुष सजा देता है. आड़े, तिरछे, घिसे हुए, बदरंग शीशों के टुकड़े, जिन्हें समेटकर एक नली के अंदर कर दिया. गोया जिंदगी के टुकड़े नली में बंद हो गये. अब इन्हें देखिए. ऐसे ही देखिएगा. तब तो वही बेतरतीब-बदरंग किरचें दिखाई देंगी. इस नली के सिरे पर कांच का एक और टुकड़ा फिट कीजिए और इस पर एक आंख गड़ाइए. आंखें फाड़-फाड़कर देखने का बहुत शौक है आपको तो कुछ नहीं दिखेगा. दूसरी आंख बंद कीजिए. अब देखिए, घुमाइए इसे. देखा? खूबसूरत, चमकदार फूल. जरा हिलाइए. एक और फूल-रंगीन सितारों जड़ा. एक-एक किरच कितने ही रंग बिखेर देती है. ढेरों इंद्रधनुष किरचों के ऊपर उभर आते हैं.

हमारे आपके चारों तरफ यही किरचें बिखरी हुई हैं. जिंदगी की किरचों को आंख खोलकर यूं ही देखें तो टूटी-फूटी, बदरंग दिखाई देंगी. शीशे के पीछे से, नली में बंद करके देखने से बहुत सुंदर लगेंगी, रूपा शर्मा जैसी. अब बहुत खुश है रूपा शर्मा अपनी जिंदगी से. घनघोर बरसात के बाद की भीगी हुई शाम जैसी जिंदगी से, जिसे रात होने से पहले अपने आसमान पर इंद्रधनुष का इंतजार रहता है, लेकिन बिना सूरज की बाहों की अंतरंग, कुनकुनी गर्माहट के इंद्रधनुष कैसे सज पायेंगे भीगे हुए आकाश पर!

यह गली जहां बंद होती है, वह मकान प्रो. शर्मा का है. खासा लंबा नाम है उनका, ब्रह्मर्षि प्रकाश शर्मा, जो अक्सर छोटा होकर बी. पी. तक सिमट जाता है, लेकिन डिग्रियां छोटी नहीं की जा सकतीं. वे ही तो खुशियां बटोरने की सीढ़ी हैं. प्रो. शर्मा प्रयोगशाला का कीड़ा कहे जाते हैं. सवेरे आठ बजे घर से निकलते हैं और रात आठ बजे से पहले घर में नहीं घुसते. अपने विश्वविद्यालय में सर्वश्रेष्ठ शोधकर्ता माने जाते हैं. अपने इस बहुरूपदर्शी को अगर थोड़ा घुमाएं तो एक और रंग दिखाई देगा. श्रीमती रूपा शर्मा, प्रोफेसर बी. पी. शर्मा की पत्नी. जब शादी होकर आयी तो केवल इंटर पास थीं. उनके पिता मामूली हैसियत वाले आदमी थे. लड़की को बी. ए., एम. ए. करा लेते या फिर पच्चीस हजार का दहेज ही जुटा लेते.

पति विश्वविद्यालय में लेक्चरर. पढ़े-लिखे लोगों का घर में आना-जाना. उन लोगों के बीच रूपाजी को हीनता का एहसास परेशान करने लगा. इसके बाद रूपाजी की लगन, ब्रह्मर्षि प्रकाशजी की मदद और कुछ उनके दोस्तों की कृपा, कि रूपाजी ग्रेजुएट हो गयीं. गाउन पहनकर हाथ में डिग्री लिये हुए उनका फोटो इसका गवाह है, जो उनके ड्राइंग रूम में लगा है. यूं तो एम. ए. भी कर लिया होता, लेकिन तभी बेटे आशू ने उन लोगों के जीवन में पदार्पण किया. फिर दो साल बाद गुड़िया. रूपाजी घर गृहस्थी और बच्चों में व्यस्त हो गयीं.

ब्रह्मर्षि प्रकाशजी का अधिक समय अब प्रयोगशाला में बीतने लगा.

कभी-कभी जिंदगी में अति महत्वाकांक्षी लोग ऐसे-ऐसे निर्णय ले बैठते हैं, जो उन्हें उनके अपने बच्चों से बहुत दूर कर देते हैं, हालांकि वे निर्णय लिये उन्हीं बच्चों की वजह से जाते हैं. क्यों ले लिये जाते हैं इस तरह के निर्णय? इस तरह के लोगों से क्यों दूर हो जाते हैं उनके बच्चे? और इन निर्णयों से व्यक्ति को आखिर हासिल क्या होता है?—एक विचारोत्तेजक कहानी—

वे प्रोफेसर बी. पी. शर्मा हो गये थे, एम. एस-सी., पी-एच. डी., डी. एस-सी. सफलता-दर-सफलता! लेकिन फिर वही बात. नजर अपनी, खयाल अपना.

इस बंद छोर वाले मकान से पहले जो लाल ईंटोंवाला मकान है, उसमें रिचा रहती है. उसके ऊपर के कमरे की खिड़की ठीक प्रो. शर्मा के मकान के सामने खुलती है. रिचा की आंख अपने चारों ओर बिखरे जीवन को टटोलती है. वह जिंदगी के रंगों को, रंगों की गहराइयों को भरपूर महसूस करती है. उसे लगता है कि जो कुछ वह देखती है, उसके पीछे का कारोबार कुछ और ही होता है और उसे समझना एक बड़ा पाठ है. वह इस कारोबारी खेल को गैलरी में बैठे एक दर्शक की हैसियत से देखना चाहती है, लेकिन कभी-कभी उसे लगता है कि खेल की उग्रता, उसे भी मैदान में धकेल देगी. दूसरों के खेल में दखल देने से उसे क्या मतलब? वह तो देखना चाहती है, सिर्फ देखना.

"आंटी, रूपा आंटी. . ." रूपाजी ने आवाज सुनी. वे निकलकर बाहर बरमदे में आयीं. देखा कि रिचा, ऊपर अपनी खिड़की से सिर टिकाये आवाज दे रही थी. "क्यों, क्या बात है?"

"आंटी, आज का अखबार देखा? अंकल का इंटरव्यू छपा है."

"सच! तो पेपर लेकर नीचे आओ न! तुम तो ऊपर से ही चीखे जा रही हो."

"अच्छा, अभी आयी!"

"आप कितनी लकी हैं रूपा आंटी. आपके पति इतने विद्वान हैं."

"ओहो, तो ये बात है? थैंक्स! अच्छा उन्हें मुझ जैसी बीवी मिली तो वह लकी नहीं हैं?" और रूपाजी अपने मजाक पर हंस पड़ीं.

"सो तो है आंटी. . ." रिचा की समझ में न आया कि वह क्या जवाब दे. रूपाजी एकाएक गंभीर हो गयीं.

"कुछ भी कहो रिचा, लाख इंटरव्यू आयें—तस्वीर छपे. रहेंगे तो वही मास्टर के मास्टर! हम लोग तो बचपन में टीचर को फटीचर कहा करते थे." रूपाजी किंचित मुस्करायीं.

"आंटी, आप भी कमाल करती हैं. अंकल इतनी बड़ी यूनिवर्सिटी में हैं. इतना नाम है उनका और आप. . ."

"अरे, ये तो सबेरे से शाम तक अपनी प्रयोगशाला में—प्रयोगों में रहते हैं. दीन-दुनिया की कोई खबर ही नहीं. मैं सारी दुनिया में अकेली मारी-मारी फिरूं. सारे सुख-दुख मेरे ही मत्थे. इनके लिए तो न घर, न बाजार! न सिनेमा, न शापिंग."

"क्यों आंटी! दिनेश मामाजी नहीं हैं क्या आजकल?"

"दीनू. . ." रूपाजी रिचा का मुंह ताकने लगीं. उन्हें यह तय करना मुश्किल लगा कि रिचा ने सरल, स्वाभाविक तरीके से दिनेश का नाम लिया है या उसकी गंभीरता के पीछे कुछ और मतलब छिपा है.

रिचा शायद उनकी उलझन समझ गयी. स्थिति के अटपटेपन को फौरन उसने संभाल लिया.

"अच्छा आंटी, चलिए! मैं अंकल को अपने हाथ से अखबार दूंगी. मैं तो उनसे एक सवाल ये पूछूंगी कि आप कैसे दस-बारह घंटे काम कर लेते हैं. मैं तो दो घंटे लगातार पढ़ लूं तो मेरे सिर में दर्द होने लगता है."

"जरूर पूछना, लेकिन आज तो ये इतवार मना रहे हैं. देर से उठेंगे. . ." कहते-कहते चुप हो गयीं. खोयी-खोयी नजरों से दूर शून्य को ताकते हुए वे उदास हो आयीं. तीन दिन पुरानी घटना से उत्पन्न अवसाद से वे फिर एक बार घिर गयीं. प्रो. शर्मा की रिसर्च के बारे में छपे इंटरव्यू से उत्पन्न खुशी की प्रतिक्रिया स्वरूप ही शायद वह प्रभाव फिर उनके ऊपर नये सिरे से ताजा हो गया. जर्मनी से आया वह जाना-माना वैज्ञानिक, प्रोफेसर शर्मा से मिलने घर पर ही चला आया था. उसके सामने रूपाजी को कितनी शरमिंदगी महसूस हुई थी. पुराने पर्दे, शादी के जमाने का फर्नीचर, वही कुशन. कमरे में एक अच्छा कालीन तक नहीं! बिजली चली गयी तो बेचारा किस कदर गर्मी के मारे बेहाल हो गया था. अजी, आजकल तो घर-घर में जेनरेटर हैं. कौन बिजली का मुंह ताकता है. इनसे कहा तो कहने लगे, "मुझसे अपनी रिसर्च के बारे में बातचीत करने आया था या मेरा घर देखने आया था." कोई परवाह ही नहीं इन्हें. सारी दुनिया इधर-उधर जा रही है नौकरी करने. इन्हीं के कितने साथी, बड़ी-बड़ी तनख्वाहों पर ईरान-तूरान चले गये हैं, लेकिन ये तो हिलना ही नहीं चाहते यहां से.

"अरे आंटी, क्या हो गया? आप किस सोच में डूब गयीं."

"हूं! कुछ नहीं."

"वो तेलवालों के यहां की खबर सुनी आपने?"

"नहीं तो, क्या हुआ उनके यहां?"

"होना क्या था! छापा पड़ गया कल रात! लाखों रुपया कैश निकला. इसके अलावा कैसेट्स, वीडियो—और न जाने क्या-क्या. सब सामान स्मगलिंग का."

"अच्छा? पकड़े गये क्या?"

"और क्या! दोनों बाप-बेटे जेल की हवा खा रहे हैं."

"देखा! कैसे-कैसे लोग होते हैं. ये बुड्ढा तेल वाला अभी कुछ साल पहले तक रिक्शा-ठेला में आवाज लगा-लगाकर मिट्टी का तेल बेचा करता था. आज लाखों का आदमी हो गया."

"अच्छा आंटी, मैं तो चल रही हूं. आप अंकल को यह अखबार दिखा देना और मेरी तरफ से मुबारकबाद भी दे देना. हां! अखबार भिजवा देना शाम तक."

रात ग्यारह बजे! दिनेश ने स्कूटर बाहर बरामदे में खड़ा किया. उसके पैर लड़खड़ा से रहे थे. ट्री—ट्री—ट्री—घंटी चीखी. कोई जवाब नहीं. ट्री—ट्री—ट्री—फिर एक बार रात के सन्नाटे में घंटी की चीख चारों ओर फैल गयी. फिर एक खामोशी.

"हो क्या गया? मर गये क्या सब?"

ट्रीं—ट्रीं—ट्रीं—ट्रीं—अबकी आधे मिनट तक गुस्से में उसकी उंगली घंटी के बटन पर ही दबी रही.

लगता है, सारा पड़ोस जाग जायेगा, लेकिन दरवाजा नहीं खुलेगा. दिनेश ने अब दरवाजा पीटना शुरू किया, लेकिन कुछ नहीं. वह पीछे गया और कमरे में बंद खिड़की के पल्ले पीटने शुरू किये. गुस्से के मारे उसका दिमाग भन्ना रहा था.

आगे से दरवाजा खुलने की आवाज आयी. लगभग पैर पटकते हुए वह फिर सामने बरामदे में आया.

आशू गैलरी के दरवाजे पर खड़ा. उसकी सिर्फ गरदन दरवाजे से बाहर निकली थी, ढीला पाजामा. लंबा नाड़ा नीचे लटकता हुआ, दरवाजे से बाहर झांक रहा था. उनींदी आंखों से वह बाहर अंधेरे में देखने की कोशिश कर रहा था.

"कौन? कौन?" सहमी हुई आवाज उसके गले से निकली.

दिनेश ने उसे देखा. वह झपट पड़ा उस पर चीते की तरह. दरवाजे के दोनों पल्लों को थामे आशू के हाथ छूट गये और उनके बीच फंसी उसकी गरदन एक तरफ को झुक गयी. दरवाजा भड़ाक से पूरा खुल गया. "हरामजादे! सुन नहीं रहा था. और . .और ये पढ़ रहा था तू. ये पढ़ाई हो रही थी तेरी." और चटाक, दिनेश का भरपूर हाथ उसकी कनपटी पर पड़ा. इस हमले से उनींदे आशू का सिर घूम गया. वह एक ओर गिर पड़ा. दर्द के मारे उसके सिर में झनझनाहट होने लगी. वह चीख पड़ा, "हाय, मर गया, मम्मी-मम्मी." और वह रोने लगा.

"खबरदार, जो मुंह से आवाज निकाली. बंद कर मुंह. चोप्प! फिर आवाज निकली! बिल्कुल चोप!" जोर से डांट-डपट करने का समय नहीं था. रात का वक्त. सारे पड़ोसी सुनेंगे. दिनेश के लाख दबाते-दबाते भी शोर हो गया था. सामने रिचा की खिड़की के खुलने की आवाज हुई थी और रोशनी की एक पतली-सी लकीर बरामदे तक आयी थी. दिनेश अंदर चला गया. दूर खिड़की की झिर्री पर काजल लगी एक आंख टिक गयी थी.

बाहर लोहे का बंद फाटक! सुनसान अंधियारा लान! अंधेरा बरामदा! उससे लगा दरवाजा अधखुला! अंदर गैलरी में पैर फैलाये बैठा—मुंह बंद करके सुबकता आशू! उसका पाजामा गीला हो रहा था. वह उठना चाहता था, लेकिन नहीं! कभी-कभी बुक्का फूट पड़ता और फिर होंठ भींच लेता वह.

अंदर गुड़िया बिस्तर पर उठ बैठी थी. कमरे की तेज रोशनी से चौंधियाती-अधखुली आंखें. भैया बिस्तर पर नहीं था. भैया की चीख सुनी थी उसने. भैया रोया था क्या? सामने दीनू अंकल! कैसी लाल-लाल आंखें-चेहरा भी लाल—पसीने से भीगा, बाल बेतरतीब—उन्हीं के सामने कपड़े उतारते हुए अंकल—पाजामा पहनते हुए अंकल—उसे फिर से डर लगने लगा. अभी-अभी उसने एक बहुत खराब सपना देखा था, बहुत डरावना! एक राक्षस था, जो बच्चों को उठाकर जंगल में ले जाता था.

"आशू भैया. . . आशू भैया. . ." गुड़िया चीख पड़ी और भागी दरवाजे की तरफ. सामने वाली खिड़की की झिर्री अब चौड़ी हो चुकी थी और एक चेहरा अंधेरे में बाहर झांक रहा था. कमरे के अंदर कूलर चल रहा था, इसीलिए गुड़िया की आवाज सामने खुली हुई खिड़की तक नहीं पहुंच पायी.

कूलर. . . हां, कूलर की आवाज. इसीलिए दिनेश के आने पर किवाड़ों का पीटना या घंटी का चीखना सहमे-सोये बच्चे नहीं सुन पाये थे. "खबरदार गुड़िया! जो बाहर गयी. टांग तोड़ दूंगा. बहादुर कहां मर गया आज."

गुड़िया को याद ही नहीं आया कि बहादुर कहां मर गया. "बहादुर? अंकल. . . बहादुर, . . नहीं है. . ."

बहादुर को उस दिन जाना था. बहादुर कैसे रुक सकता था. पहाड़ से उसके गांव का आदमी आया था. उसके घर की, बाल-बच्चों की खबर लेकर आया था. बहादुर के घर पर उसके तीन बच्चे हैं, औरत है. बूढ़ा बाप और मां है. बहादुर पेट की खातिर परदेस आया है. यहां नहीं आता, बरतन नहीं मांजता तो वहां सब लोग भूखे मर जाते. थोड़ी-बहुत जमीन थी वो साहूजी ने करजे में लिखा ली. वह तो वहीं पर मेहनत-मजूरी करने को तैयार था, लेकिन पहाड़ों में कहां मजूरी मिलती है. अब इतने दिन बाद अपनी तरफ का एक आदमी आया है—बहादुर कैसे न जाता उससे मिलने और घरवालों का हाल-चाल लेने. आशू भैया और गुड़िया को अकेला देखकर बु ः तो बहुत लगता है, लेकिन बहादुर क्या करेगा? खुद साब और मेम साब दूसरे आदमी के भरांसे छोड़कर परदेस चले गये, नौकरी करने, तो बहादुर क्या कर सकता है? उसने तो सबेरे ही दिनेश साहब को बोल दिया था कि वह रात को जायेगा.

आशू और गुड़िया को बहादुर ने खाना खिला दिया. सारा काम जल्दी-जल्दी निबटा दिया. दिनेश साहब फिर भी नहीं आये.

"आशू भैया, साहब तो नहीं आया अभी. आप किवाड़ लगा लो. मैं अब जायेगा."

"बहादुर, अभी मत जाओ. अभी मत जाओ, प्लीज, हमें अकेले डर लगता है."

"मुझे तो बहुत जरूरी जाना है भैया जी. हम तो साहब को पहले ही बोल दिया था न! साहब ने बोला कि मैं नौ बजे जरूर आ जायेगा. नौ का भोंपू तो कब का बोल गया."

"नहीं बहादुर नहीं, तुम नहीं जाओगे. . ."

"अरे आशू भैया! तुम तो बहुत बड़ा हो गया है अब! डरता नहीं है!

"देखो गुड़िया कितनी बहादुर है. वो भी नहीं डरता. तुम किवाड़ अंदर से बंद कर लो. तुम लोग जब तक टी. वी. देखेगा, साहब आ जायेगा. हम सुबह आयेगा, बहुत जल्दी. साहब को बोल देना."

दिनेश को अचानक याद आया. बहादुर को तो जाना था. वह रात की छुट्टी ले चुका था. आज वह दोस्तों के बीच ऐसा फंसा कि बस!

नमिता सिंह

"चलो गुड़िया बिस्तर पर! चलो, सो जाओ."

दिनेश का स्वर अब काफी संयत और धीमा था. फिर भी गुड़िया की हिम्मत नहीं हुई कि वह अंकल की मर्जी के खिलाफ भैया के पास चली जाये. अंकल की ओर एकटक देखती, डरी-डरी कदम बढ़ाती लंबे-चौड़े बिस्तर के कोने में चिड़िया जैसी दुबक गयी. अंदर ही अंदर उसे रुलाई छूट रही थी. मम्मी, पापा के सामने अंकल कितने अच्छे थे, कभी नहीं डांटते थे. . .

"आशू, चलो, तुम भी अंदर आओ."

आशू का चेहरा आंसुओं से तर था. गैलरी में बैठे अकेले उसे डर लग रहा था. अंदर चला जाये वह. यहां कोई आ गया तो. चोर...डाकू... भूत ...प्रेत... लेकिन अंदर? दीनू अंकल के पास?

"आ रहे हो या नहीं?"

आशू अंदर कैसे जाये. उसका पाजामा तो गीला हो गया है. कहीं दीनू अंकल को पता चल गया तो? गुड़िया भी हंसेगी. लेकिन यहां कब तक बैठेगा...आशू पाजामा समेटता हुआ खड़ा ही गया.

"ठीक है. नहीं अंदर आना है तो मत आओ. . . और फटाक से कमरे का दरवाजा बंद हो गया.

आशू हिल गया भीतर तक. रात भर अकेले में रहने की सजा. उसका कलेजा बैठने लगा. पेट में दर्द की एक मरोड़-सी उठी. कान का दर्द फिर उभर आया और सिर में धप-धप करने लगा. आंखों के सामने अंधेरे के गोले घूमने लगे. वह धीरे-धीरे दीवार के सहारे सरक गया और फिर लुढ़क गया वहीं पर.

सामने खिड़की पर काजल लगी आंख नम हो गयी थी.

"इट इज टू मच, कैसे मां बाप हैं. . ."

"सो जा रिचा बेटी, बारह बज रहे हैं."

"आशू! आशू! कैसी तबीयत है बेटे." कहीं दूर से आती आवाज आशू के कानों से टकरायी.

"कौन? डाक्टर अंकल? मुझे क्या हो गया है?" आशू बोला.

"हमारा आशू बेटा तो ठीक है भई अब! इसे कुछ खिलाओ."

"भैया.... भैया...." गुड़िया का धुंधलाया-सा चेहरा उसके सामने तैर गया. उसने धीमे से गरदन घुमाकर देखा.

"गुड़िया...पापा को बुला दे गुड़िया....पापा को." वह धीरे से फुसफुसाया. वहां बहुत से लोग खड़े थे.

"आशू बेटे, तुम्हारी मम्मी को हमने बुलवाया है. हम आज फोन करेंगे बेटे..."

वही गंदा आदमी बोल रहा है. नहीं...मम्मी को नहीं...मम्मी तो कसाई है... अहूजा आंटी कह रही थी....कसाई... बूचर...जो गाय काटता है... भैंस काटता है.. सबकी गरदन काटता है... नहीं...और वह फिर अंधेरे में डूब गया. अंधेरा ...चारों तरफ अंधेरा...उसे अब डर नहीं लगता. यहां गंदा आदमी नहीं है.... कोई भी नहीं है... सिर्फ गुड़िया है, पापा है...मम्मी के चेहरे पर एक मास्क आ जाता है, डरावना मास्क... जैसा एक अफ्रीकन डांस में देखा था उसने... कंधे

तक बिखरे बाल... पत्तियों वाला ड्रेस पहने.... फिर दीनू अंकल....नो! नो अंकल गंदा आदमी...उसके चेहरे पर भी मास्क...उसका ड्रेस भी मम्मी जैसा अफ्रीकन डांस वाला... दोनों के हाथ में एक-एक बर्छी... लंबी बर्छी...नुकीली...दोनों लोग नाच रहे हैं.... पैर उठा-उठाकर कूद रहे हैं... उसे बर्छी दिखाते हैं... हंसते हैं... मार दो इसे, मार दो इसे.... और उसकी तरफ बर्छी लेकर....

आशू फिर चीख पड़ा, उसी बेहोशी की हालत में.

"आशू-आशू." डाक्टर अंकल की आवाज दूर होती जा रही थी.

"डर गया है, ही इज टेरेबली शॉक्ड."

"डॉक्टर साहब, मैं अभी दीदी और जीजा जी को केबल करता हूं."

"हां दिनेश जी, उन लोगों का इसके पास होना बहुत जरूरी है."

दिनेश मन ही मन भुनभुनाता हुआ हॉस्पिटल से बाहर आ गया. "कंबख्त खुद चली गयी ऐश करने, पिल्ले मेरे मत्थे छोड़ गयी."

"मम्मी! ये सूटकेस क्यों निकाल रही हो? साफ करोगी क्या."

"बेटे! मम्मी अब जायेगी न! एक महीना होने को आ रहा है."

"झूठ! झूठ! तुमने तो कहा था कि तुम अब कभी नहीं जाओगी. यहीं रहोगी हम लोगों के साथ."

"तुम बीमार हो गये थे न बेटे, इसीलिए मम्मी भागी-भागी आयी अपने प्यारे बेटे के पास. अब बेटा ठीक हो गया तो मम्मी जायेगी वापस."

"क्यों? क्या बात है? आप यहां रुक नहीं सकतीं."

"बेटे, अब मैं सर्विस करती हूं. वहां ऐसे बिना बताये छुट्टी कैसे मिलेगी. जाना तो पड़ेगा बेटे."

"नहीं, आप सर्विस नहीं करेंगी. मैंने कह दिया, बस."

"अरे, हम खूब सारे पैसे कमाकर लायेंगे अपने आशू बेटे के लिए और गुड़िया रानी के लिए. खूब सारी चीजें लायेंगे वहां से."

"नहीं, तुम झूठ बोलती हो. झूठी हो. ."

"अच्छा! ये कलर टेलीविजन हम किसके लिए लाये. ये वीडियो किसके लिए लाये? मुहल्ले में किसी के पास वीडियो है? बस, हमारे आशू के पास है. तुम्हारे सब दोस्त वीडियो में फिल्म देखने आयेंगे."

"नहीं चाहिए मुझे वीडियो. टेलीविजन भी नहीं चाहिए. मैं तोड़ दूंगा सब चीजें. रख लो तुम सब चीजें अपने पास."

"पगला है मेरा बेटा तो. अच्छा बता. यहां अंकल हैं. तुझे खूब प्यार करते हैं, पढ़ाते हैं, पापा की तरह. . ."

"शटअप! नहीं है वह पापा की तरह. ही इज अ बास्टर्ड. . ."

"आशू ऊ ऊ ऊ." उसकी मम्मी चीख पड़ी और एक चांटा आशू के गाल पर पड़ा.

"दिमाग खराब हो गया है, ज्यादा लाड़-प्यार ने आदतें बहुत खराब कर दी हैं तुम्हारी. . ." गुस्से के मारे मम्मी से ज्यादा बोला ही नहीं गया. आशू का चेहरा तमतमा उठा था. ज्वालामुखी धधक रहा था उसके भीतर.

आंखें जल रही थीं. अब उसे किसी की परवाह नहीं. मार ही तो लेगी मम्मी, और क्या करेगी. बहादुर देर से नाश्ता बनाता है और वह स्कूल में लेट होता है तो टीचर मारती हैं. अंकल क्राफ्ट का सामान लाकर नहीं देते तो क्राफ्ट के पीरियड में गुप्ता टीचर कान खींचती हैं. घर में पढ़ते समय अंकल के चांटे और बक-बक. मम्मी इतने महीनों बाद वापस आयीं तो मम्मी मारती हैं. . .

"मार लो, और मार लो. सब मारते हैं, तुम भी मारो, लेकिन झूठ क्यों बोलती हो. बोलो? दीनू अंकल क्या तुम्हारे भाई हैं? वे तो दिनेश सक्सेना हैं. मुझे सब मालूम है. क्यों रहूं मैं उनके साथ? नहीं रहूंगा. . . कभी नहीं रहूंगा. . ." आशू बोल रहा है या धांय धांय गोलियां बरसा रहा है. कोई कातरता नहीं है उसकी आवाज में, जरा भी याचना नहीं है.

एक लंबा उफनता सन्नाटा. आशू दुर्दांत खड़ा है, आंखों से चिनगारियां बिखेरता. मम्मी स्तब्ध. ये कौन-सा आशू उनके सामने खड़ा है? नितांत अपरिचित. वह शर्मीला, मम्मी की गोद में मुंह छिपाकर सोने वाला आशू कहां गया? दिनेश के बारे में यह उल्टा-सीधा किसने इसके दिमाग में भर दिया है. नहीं! आशू को तो हर हालत में अब हॉस्टल में रखना ही पड़ेगा. अब खर्च का मुंह नहीं देखना. सोचा था कि दिनेश शुरू से ही इस घर पर अंतरंग सदस्य की तरह से रहा है. उसके रहने से घर छोड़ना नहीं पड़ेगा. घर की देखभाल और रखवाली होती रहेगी और हॉस्टल का दस-बारह हजार साल का खर्चा भी बचेगा. बच्चे शुरू से ही उससे हिले हुए हैं, लेकिन अब? क्या वाहियात पड़ोस है? इन टुच्चे लोगों के बीच रहकर यही तो सीखेंगे बच्चे. दरअसल सब उन्हें देखकर, उनकी संपन्नता देखकर जलते हैं.

पिछले कई दिनों से बेतरह थक गये हैं प्रो. बी.पी. शर्मा. थकान जितनी शरीर में बाहर है, उससे कहीं ज्यादा अंदर है. लगता है सीने में कुछ गहरे धंस गया है भीतर तक, जो उन्हें बेहद बेचैन कर रहा है. कुछ दिन पहले हिंदुस्तान गये थे. वहां से लौटने के बाद ज्यादा गुमसुम हो गये हैं वह. बेटी का हिलक-हिलककर रोना और कसकर उन्हें पकड़ लेना, उन्हें भीतर तक हिला गया. दिनेश लाख रूपा का भाई जैसा हो, है तो पराया आदमी. फिर अपना सगा भी होता तो क्या? आशू के हॉस्टल जाने के बाद गुड़िया अकेली हो गयी.

आशू से भी उनकी मुलाकात कैसी हुई! मुश्किल से दस मिनट. वह लगातार इधर-उधर देखता रहा मानो कुछ तलाश कर रहा हो. वह नजर नहीं मिला रहा था. उखड़े-उखड़े जवाब देता रहा और फिर अचानक उठ खड़ा हुआ, "पापा, यह हम लोगों के खेलने का टाइम है. मेरे दोस्त मेरा इंतजार कर रहे हैं. आप जाइए, सब ठीक है. मेरी चिंता मत कीजिए. . ."

कई रातों से वह ठीक से सो नहीं पाये हैं. रूपा की जिद है कि एक साल के लिए कांट्रैक्ट बढ़वा लिया जाये. वह अभी वापस नहीं आना चाहती. जिंदगी में पहली बार रूपा ने सर्विस की है. वह एक हिंदुस्तानी फर्म में रिसेप्शनिस्ट हो गयी है और इसीलिए उसे यहां बहुत अच्छा लग रहा है. लेकिन प्रो. बी. पी. शर्मा अपनी नौकरी एक साल बढ़वाने के लिए किस-किस की खुशामद करें? वह जाहिल डाइरेक्टर जो कुछ नहीं जानता और प्रो. बी. पी. शर्मा को आदेश देता है. वह शेख, जो यहां, इस इंस्टीट्यूट का सर्वेसर्वा है, हमेशा उन्हें देखकर व्यस्त हो जाता है. उस दिन वह उससे मिलने गये. अपने इतने दिनों के अरबी भाषा के संचित ज्ञान को उसके सामने पेश करते हुए वह बोले, "हलो सर! सबाहल खैर." वह युवा शेख विद्रूप से अपने होंठ गोल करके बिना उनकी तरफ देखे बोला था, "गुड मार्निंग मीस्तर शरमा. . ." उनकी मुस्कराहट गायब हो गयी और खिसिया गये थे वह.

इस बीच कितने चक्कर वह लोग अपने दूतावास के लगा चुके हैं.

डॉक्टर सुल्तान फारूख! वह भी हिंदुस्तान से यहां आये हैं. खासी दोस्ती है उनकी. उन्हें पता चला कि डॉक्टर सुल्तान फारूख को अगले दो सालों के लिए नया कांट्रैक्ट मिल गया है तो इससे श्रीमती रूपा शर्मा बहुत परेशान हो गयीं. बातचीत के दौरान फारूख न जाने किस मूड में कह बैठे कि वली के मकबरे पर जाकर मन्नत मांगो. बिना वहां हाजिरी दिये काम नहीं बनने का. फारूख लगभग नास्तिक हैं ये प्रो. शर्मा जानते थे. फिर भी फारूख ने उस जगह का नाम लिया है. . हो सकता है. वहां जाने से कोई चमत्कार हो जाये. . .

एक हफ्ते बाद पता चला कि लगभग सौ किलोमीटर दूर मकबरा-ए-वली की यात्रा करके प्रोफेसर ब्रह्मप्रकाश शर्मा वापस आ गये हैं.

"वाह पंडित! तुम तो बड़े उस्ताद निकले." सुल्तान फारूख आश्चर्यचकित रह गये. अब उन्होंने लाख विश्वास दिलाया कि वे कभी उस जगह नहीं गये थे. बात सिर्फ मजाक की थी, लेकिन प्रो. शर्मा और श्रीमती रूपा शर्मा ने उनकी बात पर भरोसा नहीं किया. सबसे बड़ी बात कि कुछ दिनों बाद ही उनका कार्यकाल भी एक साल के लिए बढ़ गया. यह सब पीर वली के रहमो-करम से ही हुआ था.

रिचा के हाथ का खिलौना गिर पड़ा है. उसकी किरचें—कुछ घिसी, कुछ बदरंग, कुछ रंगीन, सब बिखर गयी हैं. नये-नये फूल—रंग-बिरंगे—सब बिखर गये हैं. किरचें कहां-कहां तक फैल गयी हैं. कुछ नुकीली हैं, चुभन वाली और कुछ सिर्फ रिसती हैं.

दीनू अंकल और रूपा आंटी की चर्चा ने उनके लौटने के बाद कुछ ज्यादा ही जोर पकड़ लिया. आंटी तो खासी माडर्न होकर लौटी थीं. उसी का नतीजा कि दीनू अंकल की मां का सुबह की गाड़ी से धड़धड़ाते हुए वहां पहुंचना और फिर आंटी के साथ उनकी गालियों का आदान-प्रदान. अंत में मां का दिनेश अंकल को साथ लेकर जाना. उनका रिक्शा जब गली से गुजरा तो सभी ने देखा कि अंकल सिर झुकाये रिक्शे में बैठे थे और उनकी मां की बड़बड़ाहट जारी थी.

शर्मा अंकल को देखकर रिचा ताज्जुब करने लगती है. लगता है उन्हें उस विदेशी मुल्क की आबो-हवा रास नहीं आयी. एकदम बूढ़े से लगने लगे हैं वह. सिर के आधे बाल उड़ गये. जो बचे, उनमें सफेद और काले बालों की आंखमिचौनी. कमजोर भी हो गये हैं और इसीलिए चेहरा गोल से लंबा निकल आया.

उनकी फिर से वही दिनचर्या हो गयी है. सवेरे आठ बजे से रात आठ बजे तक विश्वविद्यालय में. पहले दोपहर के समय घर आया करते थे. अब खाना वहीं मंगवा लेते हैं.

रूपा आंटी बहुत बदल गयी हैं. उनकी सजावट, कंधे तक लहराते बाल. गहरा मेकअप. बात-बात में सिर झटकने की आदत. फर्राटे से कार ड्राइव करती हैं. आजकल तो दिन भर में कितने ही चक्कर लग जाते हैं. मकान बन रहा है उनका. अंकल फिर से लैब का कीड़ा बन गये हैं, इसीलिए सब कुछ उन्हें ही देखना पड़ता है, लेकिन अब—आंटी संतुष्ट हैं. सुखी हैं. यह संतुष्टि उनके चेहरे पर चमकती है. उनको तो, लगता है उम्र और कम हो गयी है.

गुड़िया को देखो! एकदम जवान हो गयी है. कल की मासूम बच्ची—स्कर्ट पहने अपनी मां के साथ बैठी—बेटी कम, बहन ज्यादा लगती है.

रिचा ने तो अपना बहुरूपदर्शी खिलौना, कैलिडोस्कोप तोड़ दिया और उसकी किरचें बटोरकर बाहर घूरे पर डाल आयी है, लेकिन श्रीमती रूपा शर्मा ने किरचें बटोर ली हैं और उन्हें सहेजकर शीशे के पीछे नली में बंद कर दिया है. अब इस बहुरूपदर्शी के शीशे पर रूपाजी की आंख है. जिंदगी कितनी खूबसूरत है, कितनी रंगीन-आकर्षक. हर बार घुमाने पर एक नयी रंगों की छटा. सिर्फ एक किरच—एक छोटी किरच बाहर निकल आयी है. बहुत चुभती है कभी-कभी. श्रीमती रूपा शर्मा बहुत गर्व के साथ एक दिन का रास्ता अपनी नयी कार से तय करके आशू के पास पहुंची थीं, उसके हॉस्टल में बेटे को नयी कार दिखाना चाहती थीं. . . लेकिन. . . बेटे ने तो उनसे मिलने से ही इंकार कर दिया. वार्डन के सामने आशू उनसे ऐसे मिला मानो उसने उन्हें पहचाना ही नहीं.

मां को देखकर कुछ सेकंड के लिए चुप खड़ा वह उन्हें घूरता रहा. वह मुस्कराकर उसकी ओर बढ़ीं, "आशू बेटे. . ." लेकिन, दो कदम पीछे हट, सिर हिलाकर वह तेजी से कमरे से बाहर हो गया. वह हक्की-बक्की रह गयीं और फिर रो पड़ीं. अजीब हंगामा हो गया वहां, लेकिन आशू फिर गेस्ट रूम में नहीं आया. इन छुट्टियों में भी उसने लिखा है कि वह घर नहीं आ पायेगा. पैसे जरूर मंगवाये हैं उसने. वह अपने दोस्तों के साथ दक्षिण भारत जा रहा है, घूमने के लिए.

श्रीमती रूपा शर्मा हिम्मत वाली हैं. बहुत धैर्य है उनमें. उन्हें विश्वास है कि सब ठीक हो जायेगा, ये उम्र ही लड़कों की ऐसी होती है. विद्रोही, अड़ियल. वक्त के साथ यह चुभन भी ठीक हो जायेगी. हां, किरच ज्यादा ही बाहर निकल गयी तो टूट जायेगी. उसके पीछे पूरा इंद्रधनुष थोड़े ही खराब किया जायेगा. □

● 1 बैंक कालोनी, मैरिस रोड, अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

घर

सुभाष पंत

घर उसी जगह को तो कहते हैं जहां आदमी अपने परिवार के साथ रहता है. अगर अस्पताल के जनरल वार्ड के सभी मरीज़ संतो के लिए अपने परिवारवालों जैसे ही हो जाते हैं तो भला वह जनरल वार्ड उसके लिए घर क्यों न होगा! प्रस्तुत हैं घर और परिवार की नयी परिभाषाएं तलाशती सारिका के सुपरिचित कथाकार सुभाष पंत की ताज़ा कहानी—

सुबह जागते ही संतो बहुत व्यस्त हो जाती है. हर रोगी के बेड पर जाकर वह उसके हाल-चाल पूछती है. उसकी चौड़ी आत्मीय मुस्कान में गज़ब की ताकत है. यह न हो तो अस्पताल बियाबान जंगल में बदल जाये.

"रात कैसी तबीयत रही बाबूजी?" लकवे के मरीज़ से पूछती है.

"ठीक हूं बिटिया."

"थोड़ा पैर हिला-डुला हूं?"

मरीज़ के ना करने पर भी वह उसके पैरों को ऊपर-नीचे हिलाने-डुलाने लगती. "डाक्टर कह रहा था न कसरत से ही पैर पूरी हरकत में आयेगा."

"कैसे हो काका?"

"ठीक हूं संतो बेटी." दमे का मरीज़ बोलता. उठने की कोशिश करता तो सांस चढ़ जाता.

"अरे सांस तो तुम्हारा धौंकनी की तरह चल रहा है."

"दमा है. दम लेकर ही जायेगा."

"ऐसी बात नहीं कहते काका. थोड़ी देर खुली हवा में बैठो. चलो, मैं छोड़ आती हूं."

"और तुम्हारे हाल बबुआ?" ममता से सिर पर हाथ फेरते हुये वह पूछती है.

"ठीक हूं संतो दी..."

"अच्छा बताओ बबुआ, यह चाकू-छुरे का खेल क्यों खेल लिया तुमने?"

बबुआ को कालेज के झगड़े में चाकू लगा था. जब वह अस्पताल में लाया गया था तो इतना रक्तस्राव हो रहा था कि बचने की कोई उम्मीद नहीं थी. संतो ने रात-दिन एक कर दिया था उसके लिए.

"क्यों खेल लिया, यह लंबी कहानी है, संतो दी. तुम पहले मिल जाती तो ये खेल नहीं खेलता. सच, तुमने मुझे एक नयी भाषा दी है. मेरा दुर्भाग्य बस यही है कि इस भाषा का संस्कार मुझे पहले नहीं मिला."

—कितना मासूम है? संतो सोचती है. जब वह अस्पताल में लाया गया था तो तोड़-फोड़ को आमादा लड़कों का हुजूम उसके साथ था. अस्पताल में फुसफुसाहट थी—कालेज का गुंडा है. बड़ा डाक्टर, जो कभी अपनी कुर्सी से नहीं उठता था, भागा-भागा आया था. पूरा अस्पताल कितना डरा हुआ था. बहुत चर्चे थे अपने इस बबुआ के. आदमी को घास-पात से ज़्यादा नहीं समझता. और मे चाकू उतारते पलक भी नहीं झपकता. लेकिन यह तो निकला मोम का गड्डा! ममता के हल्के-से परस से पिघलने लगता है.

"गुड मार्निंग आंटी." विपुल बेड से कूदकर उसके पास आता है.

"जाग गया रे विपुल. और लगा उठते ही कूद-फांद मचाने! तभी तो तेरा बुखार ठीक नहीं होता. चल मंजन-वंजन कर. मैं तेरा नाश्ता बनाती हूं."

—पता नहीं कैसा बुखार है मरा जो छोड़ता ही नहीं है. मां किसी स्कूल में मास्टरनी है. बाप नहीं है. कितनी परेशान थी वह! रात अस्पताल में सोती. सुबह दौड़कर घर जाती. खाना पकाकर लाती. स्कूल जाती. स्कूल से दौड़ी हुई अस्पताल आती. बाज़ार जाकर दवाइयां लाती. फिर घर जाती. शाम का खाना बना कर लाती. रात को अस्पताल में सोती. संतो ने ही उसे सहारा दिया था. "इतनी परेशान क्यों होती हो बहन जी. मैं तो हूं यहां. मैं ही देख-भाल कर लूंगी. कितना प्यारा बच्चा है...जैसे दूध में नहा कर निकला हो."

एक-एक करके सब मरीज़ों की खोज-खबर करती है संतो. उनके मरीज़ों के लिए पानी भरती है. खुद तैयार होती है. नाश्ता तैयार करती है. पचास मरीज़ों की गृहस्थी है उसकी. दम मारने तक की फुर्सत नहीं मिलती. चकरघिन्नी की तरह डोलती रहती है.

काम निबटा लेती है तो अनंतु के पास लौटती है. उसके भीतर फिर कुछ दरक जाता है. उसे उस सुबह का इंतज़ार है जिस सुबह अनंतु के चेहरे

पर ज़िंदगी के वापस लौटने का विश्वास जगेगा लेकिन वह पाती...अनंतु तो और हार गया है.

वह गीले कपड़े से अनंतु का मुंह पोंछती है फिर चम्मच से चाय पिलाती है. वह निःसंग भाव से चाय निगलता है. कोई चाव, लगाव, स्वाद और उत्साह नहीं रह गया है. पिलाते रहो, इनकार नहीं. रोक दो, मांग नहीं. बहुत निराश हो जाती है संतो. पर हारती नहीं. वही हार जायेगी तो सब कुछ गड़बड़ा जायेगा. उसे लड़ते जाना है और अपनी उम्मीद को ज़िंदा रखना है.

वह फिर सतर्क हो जाती है. डाक्टर का राउंड होना है. राउंड के साथ ही व्यस्तता का दूसरा दौर शुरू होता है. डाक्टर और नर्स के साथ वह भी पीछे-पीछे चलती है. राउंड के बाद नर्स की लिखी चिटें मरीज़ों के पास आती हैं. अधिकतर मरीज़ों की दवाइयां और अन्य ज़रूरत की चीज़ें वही खरीदकर लाती है. उनके जूठे बर्तन मल देती है, कपड़े धो देती है. बदले में मरीज़ जो पैसा उसके हाथ पर रख देते हैं, वही उसकी आर्थिक शक्ति है. उसी के सहारे उसकी और अनंतु की नय्या खिंच रही है.

थोड़ी-सी फुर्सत मिलती है तो अनंतु के बेड के नीचे से उसका स्टोव निकल आता है. बेड पर अनंतु है और बेड के नीचे उसकी तमाम गृहस्थी. बरांडे में स्टोव जलाकर खाना पकाती है. खाना पकाने की मनाही है अस्पताल में किंतु संतो ने सारी सांठ-गांठ भिड़ा रखी है.

दिन में भी उसे क्षण भर की फुर्सत नहीं मिलती. नर्सें भी अति सामान्य रूप से उसे आदेश देतीं. "संतो, ज़रा बेड सात के मरीज़ का ड्रिप देखती रहना. आदमी तो अपने मरीज़ों के ऐसे छोड़ जाते हैं जैसे यह अनाथालय है. और ये कमबख्त वार्डब्वाय पता नहीं कहां मर गये!"

आवाज़ के साथ ही वह हाज़िर हो जाती और मरीज़ का हाथ पकड़कर बैठ जाती. हाथ हिल न जाये. उसे बहुत अनुभव हो गया है. मरीज़ की हालत और ट्यूब से उतरते ग्लूकोज़-सैलाइन की गति को देखते ही बता देती है ड्रिप ठीक है या नहीं.

इस तरह वह सिविल अस्पताल के जनरल वार्ड नौ की ज़रूरत बन गयी है. वह पूरे वार्ड को अपने भीतर धड़कता महसूस करती है. बहुत अपनत्व हो गया है उसे उसकी दोरंगी दीवारों से. दरअसल अस्पताल अब उसका घर है.

जब उसने अनंतु के साथ पहली बार यहां कदम रखा था तो वह भीतर तक दहल गयी थी. वार्ड की दोरंगी दीवारें मनहूसियत उगल रही थीं. मरीज़ों की चीख और कराह से भरी हवा ने उसके दिमाग में आतंक पैदा कर दिया था.

अनंतु को पांचवें बेड पर लेटा दिया गया था. वह दर्द से चीख रहा था. वार्ड में मरे हुए चूहे की-सी गंध समायी हुई थी. एक मरीज़ पेशाब का बंद पड़ जाने की वजह से तड़पते हुए चीख रहा था. "सिस्टर सिस्टर, मुझे बचा लो! सिस्टर, मैं मर रहा हूं."

सिस्टर निर्विकार स्वेटर बुनती जा रही थी.

—बहरे हैं क्या यहां सब? उसने सोचा था. मरीज़ों के चीखने-चिल्लाने की किसी आवाज़ का कोई असर ही नहीं होता उन पर. उसे लगा था यह तो कत्लगाह है. इसमें तो एक दिन काटना भी मुश्किल है. वह टिकी थी यहां तो सिर्फ इस विश्वास के सहारे कि यह अस्पताल उसके सुहाग की रक्षा कर लेगा और वह जल्दी ही अपनी दुनिया में लौट जायेगी. टिन की छत वाली एक कमरे की अपनी दुनिया में जिसके जंगले के भीतर झांकते हुए सूरज भी डरता है. लेकिन वह उसकी अपनी दुनिया है. उसके दीमक खाये दरवाज़े पर खड़े होकर वह अनंतु का इंतज़ार करती है और उसकी झिरझिरी छत के नीचे वह गा सकती है, रो सकती है, चिड़िया की तरह फुदक सकती है.

अनंतु ने पानी मांगा था तो वह चौकन्नी हो गयी थी. लेकिन पानी के लिए कोई बर्तन तो वह लेकर ही नहीं आयी थी. वह दौड़कर सिस्टर के पास पहुंची थी. "डाक्टरनी जी पानी के लिए कोई बर्तन मिल जायेगा?"

सिस्टर तुनक गयी थी, "कैसे-कैसे लोग चले आते हैं?"

"बड़ी किरपा होगी डाक्टरनी जी..."

"वह बोतल ले लो." उसने ग्लुकोज़ की खाली बोतल की तरफ इशारा किया था.

बोतल लेकर वह गुसलखाने की ओर दौड़ी थी. नल के पाइप में फंसी हवा गरगरायी थी और चुप हो गयी थी. एक बूंद भी पानी नहीं टपका था उससे.

"भाई जी, कहीं थोड़ा-सा पानी मिल जायेगा?" बाहर निकलकर उसने वार्डब्वाय से पूछा था, जो मस्ती में सीटी बजा रहा था.

"पानी!" वह सीटी बजाना भूलकर आश्चर्य से उसे देखने लगा था. "पानी तो यहां सुबह दो घंटे के लिए आता है."

"भय्या, फिर पानी कहां मिलेगा?"

"मुश्किल है. उधर अस्पताल के बाहर सड़क पर एक नल है. वहां ट्राई करके देख लो." उसने कहा था और सीटी बजाते हुए चला गया था.

सड़क के नल ने खखारने की सौजन्यता भी नहीं दिखायी थी. निपट सूखा था. वह एकदम हारी हुई खाली हाथ लौटी थी.

बेड नंबर चार का मरीज़ अपने डगमगाते हाथों से अनंतु को पानी पिला रहा था.

वह उस मरीज़ के प्रति—जिसका वह नाम भी नहीं जानती थी, बेहद कृतज्ञ हो गयी थी. लेकिन उसके मुंह से आभार का एक भी-शब्द नहीं निकल सका था. वह बेड पर बैठी और झुककर सिसकने लगी थी.

"ऐसे नहीं हारते बेटी." मरीज़ ने उसे दिलासा दी थी. "भगवान सब

ठीक करेगा. मुझे मेरे बैड तक छोड़ दोगी बेटी. पैरों में ताकत ही नहीं है. लकवा हो गया था.''

संतो उसे सहारा देकर उसके बैड तक ले गयी थी.

बिल्कुल अपंग हो गया था लेकिन अब मैं थोड़ा-थोड़ा खड़ा हो सकता हूं और दीवार पकड़कर पांच-सात कदम चल भी सकता हूं. हौसला छोड़ देता तो सब कुछ खत्म था. हौसले में बहुत ताकत होती है.

''संतो...''अनंतु फुसफुसाया था.

''मैं यहीं हूं.'' वह उसके पास जाकर बैठ गयी थी.

''पता नहीं क्या टूटता जा रहा है मेरे भीतर. लगता है जैसे एकदम खोखला हो गया होऊं.''उसने संतो का हाथ पकड़ लिया था. बहुत कमजोर गिरफ्त थी उसकी. पूरी तरह से हारी हुई गिरफ्त. जब उसने पहली बार उसका हाथ पकड़ा था तो उसके शरीर का एक-एक रोमकूप जाग गया था. और एक यह गिरफ्त थी...

''तू फिकर क्यों करता है. इत्ता बड़ा अस्पताल है. इत्ते बड़े डाक्टर हैं. तुझे चुटकियों में ठीक कर देंगे.'' उसने अनंतु को आश्वस्त करना चाहा था लेकिन वह खुद बेचैन हो गयी थी.

''तेरा क्या होगा संतो...'' उसने बहुत टूटी आवाज में कहा था. ''बहुत अनियाय हुआ है तेरे साथ. तेरे पैर तेरी जमीन से काट दिये और तुझे वहां छोड़ दिया जहां तू निपट अकेली रह गयी है.'' फिर उसने मुंह फेर लिया था और दर्द से कराहने लगा था.

संतो दौड़कर सिस्टर के पास गयी थी. ''डाक्टरनी जी, मेरे आदमी की तबीयत ठीक नहीं है. आप जरा चलकर देख लें.''

सिस्टर स्वेटर का फंदा उठा रही थी. उसने झुंझलाकर कहा था, सुबह डाक्टर राउंड पर आयेगा, वही देखेगा. तुम्हारा आदमी ही अकेला बीमार नहीं है जो डाक्टर-नर्स हर समय उसके बैड पर खड़े रहें.''

''लेकिन डाक्टरनी जी, मेरे आदमी को तो अभी तक किसी नें देखा ही नहीं.''

''तो अपने मरीज को किसी नर्सिंग होम में ले जाओ. सिविल में तो ऐसे ही इलाज होता है.''

वह चुपचाप वापस आकर अनंतु का सिर सहलाने लगी थी.

''क्या बात है बेटी?'' लकवे के मरीज ने पूछा था.

''बड़े वाहियात लोग हैं, आदमी को तो कुछ समझते ही नहीं.'' उसने भभकते हुए कहा था.

''बेटी, तुम जो जबान बोल रही हो, ये इसे नहीं समझते. ये सिर्फ पैसे की जबान समझते हैं. पचास रुपये दो तो डाक्टर मरीज को देखता है. आदमी तो इनके लिए लिफ़ाफ़ा है. रुपयों से भरा बटुवा या खाली बटुवा.''

उसकी बात सुनकर वह कितनी घबरा गयी थी. तब उसे लगा था यह अस्पताल नहीं कत्लगाह है.

अब अस्पताल अस्पताल नहीं लगता. अपना घर लगता है.

ड्रिप समाप्त हो जाता तो वह अनंतु के पास आकर बैठ जाती है. ये कुछ फुर्सत के क्षण मिलते हैं उसे जिसमें वह उसके बारे में सोच सकती है. अनंतु गठरी की तरह लेटा होता. क्या जीवट का आदमी था! गठा हुआ शरीर. गांव की कितनी लड़कियां उसके सपने देखा करती थीं. लेकिन उसकी आंख जुड़ी तो संतो से. बल्लम और डंडों के बीच से वह उसे गांव से शहर लाया था. उसके लिए उसने अपने-घर, जमीन और पशुओं का मोह छोड़ दिया था. जात-बिरादरी की सारी दीवारें तोड़ दी थीं. संतो को दुख होता तो वह हंस देता.

''एक दिन मैं सारी चीजें अपने पच्छ में बदल दूंगा. तू देखती रह. आदमी के भीतर हौसला हो तो वह किया नहीं कर सकता!''

वाकई उसमें गजब का हौसला था. वह उसके चौकड़-चाकल सीने में सिर छुपा लेती तो ऐसा लगता जैसे भटकती चिड़िया को बसेरा मिल गया हो. सारे अभाव एकदम बौने लगने लगते.

सब कुछ बहुत अच्छा चल रहा था लेकिन कुछ दिनों बाद अनंतु के सिर में दर्द रहने लगा. शाम को लौटता तो सिर टेककर बैठ जाता. संतो कहती, ''किसी डाक्टर को दिखा दे.'' वह टाल जाता. बस यही लापरवाही ले डूबी. कुछ दिन बाद दर्द बहुत बढ़ गया और एक रात तो वह बेहोश ही हो गया. बेहोश अनंतु को ले कर ही वह अस्पताल आयी थी.

विपुल पीछे से आकर उसकी आंखें बंद कर लेता है.

वह उसके तपते हुए हाथों का महसूस करे कांप जाती है. ''तू उछल-कूद क्यों मचा रहा है रे विपुल, तुझे तो अब भी बुखार है. आराम नहीं करेगा तो ठीक कैसे होगा?''

''नींद नहीं आती आंटी.''

''कहानी सुनकर सोयेगा? अपने बैड पर चल, मैं तुझे कहानी सुनाती हूं.''

''कौन-सी कहानी सुनाओगी आंटी?''

''शेर और मेमने की.''

''यह कहानी तो मैं जानता हूं.''

''राजा और उसके सात बेटे.''

''यह भी सुनी हुई है आंटी.''

''अलीबाबा चालीस चोर.''

''ऊं हूं.''

''बंदर और मगरमच्छ की.''

''नहीं आंटी, कोई नयी कहानी सुनाओ.''

''हां, सचमुच ये कहानियां पुरानी हो चुकी हैं.'' वह कहती है, ''मैं तुझे नयी कहानी सुनाऊंगी. लेकिन अभी यह कहानी अधूरी है. मुझे मालूम नहीं, यह पूरी कैसे होगी. पूरी हो जायेगी तब सुनाऊंगी.''

दमे के मरीज को दौरा पड़ जाता है. वह उसके पास दौड़ती है. बहुत लंबी और लगातार खांसी है. सांस नहीं आ रही है. वह हांफ रहा है और आंखें फटकर बाहर को निकल रही हैं. खांसी के दौरे में सांस कभी भी रुक सकता है. आक्सीजन की जरूरत है. वह सिस्टर के पास दौड़ती है. सिस्टर नहीं है. वार्डब्वाय को ढूंढती है. वह बरामदे में स्टूल पर बैठा बीड़ी पी रहा है. ''बनवारी, आक्सीजन ला. दमे के मरीज के दौरा पड़ गया है.''

''आक्सीजन सिलिंडर इमरजैंसी में गया हुआ है.'' वह निर्विकार भाव से जवाब देता है और बीड़ी पीने लगता है. वह भागकर वापस आती है और सीने पर मालिश करके सांस लेने में उसकी सहायता करती है. मरीज का दौरा रुक जाता है. आंखें सामान्य होकर गड्ढों में वापस चली जाती हैं.

''मुझे लगता है मेरा आखरी वक्त आ गया है.'' वह हांफते हुए कहता है.

''ऐसी बात नहीं कहते काका.''

''एक बेटा था मेरा सत्ती. पांच साल पहले झगड़ा करके भाग गया था. बहुत याद आती है उसकी. पता नहीं कहां होगा. कमबख्त ने कभी जीने भी नहीं दिया...अब मरने भी नहीं दे रहा है.'' उसकी आंखे गीली हो जाती हैं और गला रुंध जाता है.

जितने मरीज हैं वार्ड में, उतनी कहानियां हैं उनकी. जितनी कहानियां हैं, उतने दुख हैं. संतो अकेली है...लेकिन दुखों की दुनिया में अकेली नहीं है...बहुत साथी हैं उसके.

चायवाला छोकरा आ जाता है. उसके आते ही चारों ओर से चाय की फरमाइश शुरू हो जाती है. अस्पताल में चाय बड़े राहत की चीज है. चाय बांटकर वह संतो के पास आकर बैठ जाता है. एक प्याला चाय वह अनंतु के लिए देता है और दूसरा प्याला संतो के लिए. हर दिन दो प्याले चाय वह उसके लिए निकाल लेता है. संतो के पास स्टूल पर बैठकर कान में खुंसी बीड़ी निकालकर पीने लगता है.

''अब कैसा है तेरा आदमी?''

अस्पताल की दिनचर्या में यही एक क्षण ऐसा होता है जब एकाएक उसकी आंखें नम जाती हैं.

''क्या बताऊं भैय्या, कुछ फरक नहीं पड़ रहा.''

''डाक्टर के मुंह पर सौ-डेढ़ सौ रुपये नहीं मारेगी तो तेरा आदमी ठीक नहीं होगा. ये साले बड़े हरामजादे हैं.''

वह यहीं कमजोर पड़ जाती. सौ-डेढ़ सौ रुपया कहां से लाये? पता नहीं कैसी जुगाड़ करके तो वह जिंदा है. इन्हें क्या मालूम, आदमी की तकलीफें क्या होती हैं?

शाम हो जाती. शामें अस्पताल के माहौल को, उसके सूनेपन और मनहूसियत को झटककर फेंक देतीं. बीमार मानसिकता के बीच कुछ स्वस्थ आहटें सुनाई पड़ने लगतीं. जिंदगी की खुशबू महकने लगती. दरअसल शाम ऐसी खिड़की है अस्पताल में जिससे अस्पताल से बाहर की दुनिया के रंग दिखाई पड़ते हैं. मरीजों को देखने के लिए उनके संबंधियों और शुभचिंतकों की आवाजाही शुरू हो जाती है और अस्पताल. के सन्नाटे में चहल-पहल के रंग उभर आते हैं. लेकिन संतो इस वक्त बहुत उदास हो जाती है. उसका कोई भी नहीं है जो दुख की घड़ियों में उससे दो बातें कर सके. अस्पताल के बाहर शहर तो एक जंगल है और गांव, वह तो कमान पर खिंचा हुआ तीर है.

रात उतरती है तो उसके साथ गहरा सन्नाटा उतर आता है और अस्पताल उस सन्नाटे में भांय-भांय करने लगता है. नर्सों के चेहरे थक जाते हैं. मरीजों की खांसी ज्यादा आतंकित करने लगती है और उनकी कराहें ज्यादा दर्द के बोझ से भर जाती हैं. ये खांसियां, ये कराहें, ऊंघती हुई रोशनियां और छत का बोझ उसके सीने पर उभर आता है. वह जमीन पर कंबल बिछाकर लेट जाती है. सोने की कोशिश करती. नींद नहीं आती. सारी जमा पूंजी अनंतु की बीमारी चूस गयी है. यह तो रोगी मित्र संस्था की मेहरबानी है जो उसकी दवाइयों का खर्च उठाती है और वार्ड के रोगियों की दया है जिनके साहारे वह जिंदगी खींच रही है. ऐसे में वह सौ-डेढ़ सौ रुपये का इंतजाम कैसे करे? किसी को क्या पता कितनी बार वह अस्पताल के इस ठंडे-चिपचिपे फर्श पर भूखी सोयी है.

रात के बाद सुबह जरूर आती है. आशा की किरण फूट गयी है उसके हिये में.

फिजीशियन की बदली हो गयी. उसके स्थान पर जो डाक्टर आया है वह बहुत गरीब परवर है. अस्पताल राहत की सांस ले रहा है. वह अनंतु का बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण करता है.

''इस मरीज के पैथोलोजिकल टैस्ट क्यों नहीं हुए?'' वह नर्स से पूछता है.

नर्स कोई जवाब नहीं देती.

''यह यहां चार महीने से है.''

''जी.''

''आश्चर्य है, फिर भी कोई टैस्ट नहीं हुए.''

''जी डाक्टर....''

''आपका भी तो कोई फर्ज था। आपको पूछना चाहिए था इसके टैस्ट क्यों नहीं हुए?''

नर्स कोई जवाब नहीं देती. संतो चुप नहीं रह सकी बोल गयी, ''मेरे पास डाक्टर को देने के लिए सौ रुपये नहीं थे.''

सब औचक सन्नाटे में भर जाते हैं.

''देखो मैं पैथोलोजिकल और रेडियोलोजिकल टैस्ट्स के लिए लिख रहा हूं. आप तुरंत ये टैस्ट कराकर मुझे रिपोर्ट भिजवाईये. बिल्कुल देरी मत कीजिये.'' वह नर्स को आदेश देता है.

''ठीक है सर.''

डाक्टर दूसरे मरीज की ओर जाने लगता है तो वह एकाएक फफक पड़ती है, ''मेरे आदमी की जिंदगी बचा लीजिये डाक्टर साहब!''

''मैं पूरी कोशिश करूंगा.'' डाक्टर आश्वस्त करता है.

इसके बाद अनंतु को महत्व दिया जाने लगता है. उसके मल-मूत्र और खून का परीक्षण होता है. कई तरह के एक्स-रे किये जाते हैं और सारी रिपोर्टें डाक्टर को भिजवा दी जाती हैं.

● सुभाष पंत

डाक्टर कई दिन उन रिपोर्टों का अध्ययन करता है और उसे अपने कमरे में बुला लेता है.

''मैंने आपके पेशेंट की अच्छी तरह से जांच कर ली है.'' वह बहुत सहानुभूति के साथ कहता है, ''उसका यहां इलाज संभव नहीं है. यह ब्रेन ट्यूमर का केस है. देर तो काफी हो चुकी है. फिर भी मैं पूरी तरह निराश नहीं हूं आप मेडिकल इंस्टीट्यूट दिल्ली चली जाइये. मैं आपके पेशेंट को डिस्चार्ज करता हूं और आपको सलाह देता हूं कि आप कतई भी वक्त न गंवायें. मेरी शुभकामनाएं आपके साथ हैं.''

संतो को लगता है जैसे उसके सीने पर दनदनाता घूंसा मार दिया गया हो. वह चीखना चाहती है. ''आप मुझे ऐसे नहीं निकाल सकते डाक्टर साहब! यह अस्पताल तो अब मेरा घर है.'' लेकिन वह कुछ नहीं कह पाती. कुछ भी नहीं.

मरी हुई चाल से वार्ड की ओर लौट पड़ती है. सोचती जाती है, कहां लेकर जायेगी वह अनतु को अस्पताल के अलावा तो उसका कोई घर ही नहीं है. किराये के घर से तो मकान मालिक उसे दो महीने पहले ही निकाल चुका है. कोई छत नहीं है उसके पास सिर छुपाने के लिए. लेकिन वार्ड तक पहुंचने पर पाती है, कुछ न होने के बाद भी 'कुछ' है उसके भीतर जो उसे हारने नहीं देना चाहता. कहता है तू निश्चय तो कर संतो रास्ते खुद खुलेंगे.

वह सामान बांधती है तो सब उसे घेर लेते हैं.

''इतना ही साथ था....'' वह रुंधे गले से कहती है, ''अब तो दिल्ली जाना है.''

विपुल रोने लगता है, ''आंटी तुम तो कह रही थी, कहानी सुनाऊंगी.''

''मेरी कहानी अधूरी है अभी. पूरी हो जायेगी तो तुझे सुनाने जरूर आऊंगी विपुल.''

''ये कुछ पैसे रख लो आंटी, लियो गन खरीदने के लिए जमा किये थे. देखो, मना मत करना. अब मैं लियो गन नहीं खरीदना चाहता.''

बबुआ भी बहुत संवेदनशील हो जाता है, ''ठीक होता संतो दी तो तुम्हें दिल्ली तक छोड़ आता. ये थोड़े से पैसे रख लो, संतो दी.... देखो मना मत करना संतो दी.''

एक-एक करके सबसे मिलती है संतो, मना करने पर भी वे कुछ न कुछ उसकी मुट्ठी में रख देते हैं....

वह अनंतु को गोद में लेकर तांगे पर बैठ जाती है. तांगा चलता है. वह अपनी भीगी पलकें उठाकर देखती है. वार्ड के बरामदे से उसे विदा देने के लिए बहुत से हाथ हिल रहे हैं. वह उन हिलते हुए हाथों को पहचानने की कोशिश करती है. हांफता हुआ हाथ है, दमे वाले काका का आहिस्ता-आहिस्ता हिलता हुआ लकुवा खाया हाथ है. यह रहा विपुल का तपता हुआ हाथ.... और यह हाथ.... यह हाथ. हिलते हुए हाथ धूमिल पड़ते हुए अदृश्य हो जाते हैं और नये घर की तलाश में दौड़ते हुए घोड़े की टापें गूंजने लगती हैं. □

● १५३ डोभालवाला, देहरादून-२४८००१

चीरहरण के बाद

आलमशाह खान

सीलू का चीरहरण किसने किया था? राज्य के उद्योगमंत्री ने, जिसे दिखाने के लिए ही सीलू को आदिवासी औरत के रूप में सजाकर शो-केस में खड़ा किया गया था, या स्मॉल इंडस्ट्रीज विभाग के चपरासी जंगी ने, जिसने उसकी मजबूरी का फायदा उठाने की कोशिश की थी या फिर उसके पति ने, जिसने भरे घर में उसका चोला उतार दिया था?

पहले मौसम ने पुरवैया का झीना घूंघट ढरकाया और फिर बादल का गद्दा ओढ़ लिया. जाने कैसे और कहां से सरचाई हवाओं ने गमक ली कि सुरसुरी छूट गयी. आकाश के किसी कोने में दुबककर बैठी अमावस की भोर ने तभी आंचल निचोड़ा और देखते-देखते शहर का ओर-छोर भीग गया. धरती की सांस में मिट्टी की सौंधी सुगंध रच गयी. पवन पेंग कुरमुराकर ठहर गयी. एकदम सांस रोके चुप. अमा की सांझ का आंचल लहराता कि बिन मौसम की अनचाही छींटा-छांटी बिलमा गयी और दीपावली के दीये आंगन-मुंडेर पर उजली किलकारी बिखेरने लगे. हाट-बाजार में भीगी-भीगी नरम रोशनी. ठहरी हवा की हथेली की ओट. जगर-मगर हो उठी.

आदिवासी-हस्त-कला केंद्र (सरकार का अपना प्रतिष्ठान)'. बड़ी और ऊंची दूकान के माथे पर तिलक की भांति चढ़े नियोन लाइट्स के लेख जगमगाने लगे. इस प्रतिष्ठान का राज्य के उद्योग मंत्री के हाथों, दीपावली के शुभ अवसर पर, आज ही रात को नौ बजे उद्घाटन होना है. आदिवासियों के हाथों में आदिकाल से सुरक्षित दस्तकारी को व्यावसायिक स्तर पर पनपाने के लिए नये मंत्री की कल्पना आज साकार होनी है. प्रांत के हर बड़े नगर में ऐसे एक केंद्र की स्थापना के आदेश जारी किये जा चुके हैं. उत्तर भारत के वेनिस नाम से विभूषित इस ट्यूरिस्ट नगर में यह पहला केंद्र है.

उद्घाटन-समारोह में कहीं कोई कोर-कसर न रह जाये. इसके लिए जिलाधीश ने स्मॉल इंडस्ट्रीज विभाग के तेज-तर्रार और चुस्त-चौबंद डिप्टी डायरेक्टर श्री तिरखा को खास तौर पर तैनात किया है. तिरखा साहब अपने चार सहायकों के साथ दो घंटे पहले ही आ पहुंचे हैं. अपने सजग एस्थेटिक-सेंस का पूरा-पूरा उपयोग करके उन्होंने दस्तकारी के मुंह बोलते नमूनों को यूं सजवाया-जमवाया है कि केंद्र में पैर रखते ही मुंह से 'वाह-खूब' निकल जाये तो अजब नहीं. तिरखा साहब चौफेर आंख डालकर जायजा ले रहे थे कि कहीं कोई कमी-कसर तो नहीं रह गयी. सभी कुछ डायरेक्टर' स्मॉल स्केल इंडस्ट्रीज की पूर्ण योजनानुसार तो है न? वह साज-सजावट को अभी तौल ही रहे थे कि—उनकी निगाह ने ठोकर खायी.

"अरे ये कैसे खाली पड़ा है?" उन्होंने अपने सिर से भी ऊपर निकलते हुए कांच के उस चमकते हुए आदमकद शो-केस के शीशों पर हाथ फेरते हुए कहा.

"वो साहब—इसमें आदिवासी युवती की डमी—प्लास्टिक की डमी लगनी है—और वह आ नहीं पायी. रिमाइंडर पर रिमाइंडर जा चुके हैं. परसों तार भी दिया पर..."

"वो सब तो किया पर अब वक्त कहां है? शो-केस में आदिवासी युवती की डमी रखने का आइडिया खुद डायरेक्टर साहब का है. और वही गायब... यह केस लगा भी ऐसी कमांडिंग पोजिशन में है कि इसे हटा दें तो सारे केंद्र की नाक ही उड़ जायेगी." रंगीन सीमेंट में सीप के चमकीले चिप्स से चकमते पिलर से सटे शो-केस को निरखते हुए तिरखा साहब ने कहा. "भई, कुछ भी करो, कैसे भी हो. डमी तो इसमें लगनी ही चाहिए. शहर में कहीं नहीं कोई डमी?"

"है तो साहब, पर वे सब स्कूल के लड़कों की हैं."

"अरे मारो भी गोली. अपना दिमाग फेंको कहीं..." तिरखा साहब अपनी बात पूरी करते कि तभी उन्हें सामने टैंट की कनात के पास एक भिखारिन दिखाई दी. वह कनात के पीछे बनने वाली पूरियों-कचोरियों की सुगंध से बंधी. मुंह चौड़ा कर अजीब ढब में चिरोरी कर रही थी. "बाबू एक कचौरी—बस एक पूरी." तिरखा साहब के माथे में 'जलू-बुझू-जलू' जीरो बल्ब की दिप-दिप में नाचता हुआ 'बिजली का मोर' बोल उठा, 'ठीक आदिवासी ही लगती है यह जवान भिखारिन. इसे ही नहला-धुला सजा-संवार कर आदिवासी पोशाक पहनाकर शो-केस में खड़ी कर दें तो? यही कोई घंटे-आधे घंटे के लिए. बस, उद्घाटन का फीता कट जाये. एक राउंड मिनिस्टर साहब ले लें—फिर इसकी छुट्टी.' तिरखा ने सब सोच लिया और अपने सैक्शन इंचार्ज को, दूर अलग ले गये. उसे जरूरी हिदायतें देकर—आंख का कोना दबा दिया. "देखो, शर्मे, तुम्हारे और केंद्र के मैनेजर के बीच रहे यह बात. औरों को कानों कान खबर न हो." तिरखा ने शर्मा के कानों में फूंक मारी और साज-संभाल में फिर जुट गये.

मंत्री जी के आने के थोड़ी देर पहले ही केंद्र की बिजली चली गयी. तिरखा साहब हड़बड़ाकर बोले, "देखो तो शर्मै-शर्मै, यह सब गुल-गपाड़ कैसे हो गया?" कोई पांच मिनिट अंधेरा रहा और फिर सब जगमगाने लगा. आदमकद शो-केस भी. युवती की डमी थी उसमें. एकदम सही सजग. ठीक वैसी-जैसी तीज त्यौहारों पर देखी जा सकती हैं. अपनी पारंपरिक वेश-भूषा में. गहनों से सजी-संवरी एक आदिवासी युवती की डमी लगी थी उसमें.

तिरखा साहब ने सब कर लिया था. एकदम सौ टंच. तभी कार का हार्न सुनाई दिया. पुलिस के पयादों में हलचल हुई. मंत्री जी आ गये... आ गये मंत्री जी... अगली कार के रुकते ही पिछली कार से कलेक्टर साहब उतर पड़े और कार के फाटक को अदब से अपनी ओर खींचते हुए 'पधारें सर' के बोल के साथ वह दोहरे हो गये. एस. पी., डी. एस. पी. ने सलाम ठोके और अगवानी में दायें-बायें चलने लगे.

नियोन लाइट्स में मुस्कराते हुए साइन बोर्ड पर मंत्रीजी ने नजर डाली. नन्हीं ऊंचाई वाली सीढ़ी पर पैर रखा कि उनके गलों में फूलों के हार झूल गये. कैमरे की आंख चमकी और सामने आयी तश्तरी में से चिलका मारती कैंची उठाकर उन्होंने फीता काट दिया. कैमरों ने फिर आंख चमकायी और चौफेर में तालियों की गड़गड़ाहट भर गयी. मंत्रीजी आगे बढ़े. पहले एक नजर शो-केस पर गयी. उन्हें लगा जैसे शो केस के शीशे पर झूलते खादी के फूलों के पीछे आदिवासी लड़की की सूरत में कहीं कुछ सुरसुरी सी जागी है. तभी उनका पी.ए. सॉरी कहता हुआ उनके पास आया और उनके कान में कुछ फुसफुसाकर परे हो गया. मंत्रीजी की चाल में तेजी आ गयी और वह अब सब झटा-झट निपटाने के मूड में आ गये. चटपट उन्होंने केंद्र का राउंड लिया और बाहर आकर शामियाने की ओर बढ़े. सामने लगे आसन को ग्रहण किया. स्वागत भाषण करते हुए जिलाधीश उनके मंत्रालय की उपलब्धियों को और गिनायें, इससे पहले ही वह चेहरे पर आभार का भाव लाकर खड़े होते हुए और 'दो शब्द' के बदले सौ दो सौ शब्द कहकर ही बैठ गये. उनकी उतावली को लक्ष्य करके आयोजक भी जान गये कि शायद राजधानी से बुलावा आया है. इधर मंत्रि-मंडल के हेर-फेर की बात भी राजनीतिक हलकों में गरम थी. धन्यवाद और औपचारिकता पूरी करते ही आगे वाले शामियाने की कनात हट गयी. सामने बफे डिनर था. मंत्रीजी थोड़ा-सा चुग-चुगाकर 'क्षमा-करें' कहकर अपनी कार की ओर बढ़े. उनके रवाना होते ही टेबल पर तश्तरियां चम्मच बजने लगे. अंग्रेजी ढब में परसा गया भारतीय खाना ठेठ हिंदुस्तानी ढंग से खाया जाने लगा.

जिलाधीश के साथ दूसरे छोटे-बड़े अफसर रवाना हुए तो साढ़े नौ से ऊपर हो गये थे. दीपावली की रोशनी में लोगों के चेहरे चमक रहे थे. सब में एक हुलास था. सबके मन खिले-खुले थे पर वह शीशों के पीछे बंद, रोशनी के धारों से घिरी हुई, सांस रोके मुरदार खड़ी हुई थी. एकदम चुप. बेहिल-बुत-डमी. गरम पूरी-कचौरी, हलवे-भात-सब्जी-सालन के तीखे भभके शो-केस पर दस्तक देते, पीछे के खुले हिस्से से घुसकर, उसकी भूख को भड़का रहे थे. आज उजाले के त्यौहार पर भोर-किरन जागे ही दारू की बासी बू फेंककर उसका घरवाला उसके मन-माथे पर अंधेरा उंडेलता बोला था. "अंटी ढीली कर अपनी. आज दीवाली है, पीने के लिए आज भी ना बोलती है. भगतन छिनाल! तैवार के मौके पर अपने जने को कोख में उछालकर उसके भूख-रोग की दुहाई देकर, कल दिन भर मांगा-खाया और मुझे पव्वे के पैसे पर टरका दिया रात... ला और ला...".

"अब और कां से दूं? रात को पिया. अब, मूत पी ले जाके ! कुंडी का जा... पीऊं पीऊं रात-दिन पीऊं... जे भान नी के बेटा भूखा है. सूखा रोग है उसे. उसके लिए कुछ..."

"सीख देती है, मेरे को, मेरे साले की लुगाई तू. चल, कर ढीला अपने बिलाउज का गूमड़. केवेनी है मेरे कने. वो जो छाती पर गूमड़ दिख रिया—पैसे कहां खोसे हैं- मैं नी जानूं भला."

"ले देख अपना मैना-महतारी का गूमड़. ले है कुछ इस चाटे चाम में !" इतना कहकर उसने अपनी छाती पर ढरके फटे ब्लाउज को ऊपर उरस दिया.

"सूकरी जोबन दिखाती है ! जेठ-देवर सब हैं आसपास, सबके सामने नंगी होवे तू..." इतना कहकर वह डगमगाते पैर आगे बढ़ा और उसका झोंटा पकड़कर खींच लिया.

"छोड़ ! कसाई छोड़...!" वह चीखी और दोनों हाथों से उसे इस जोर से धकेला कि वह जमीन पर गूदड़ में लिपटे उसके 'बचवा' पर जा गिरा. बचवा बिलबिला उठा. वह उसे उठाने के लिए लपकी. तभी उसने संभलकर उसे अपनी गोद में उठा लिया.

"माटी-पूत दोनों को एक साथ सपफा कर किसी और यार के जाने की सोचे है तू. सब जानूं." उसने गहरी मार की.

"की जायी जानमी ही वैसा करें, मैं नी करती वैसा सांग. कुंआरी बहना और रांड मां, अपनी का, पेट देखा है, ऊंचा उभरा. मेरे सामने ऊंचा मत बोल हां... छोड़ मेरे दूध-पूत को." धारदार मार की उसने और अपने बचवे को छीनने लगी उसकी बाहों से.

"तेरा दूध है कि मेरा तुख्म... इसी की दुहाई दे खूब भीख कमाई करे तू. अब इसे मैं अपने पास रखूंगा. खुद मांगूंगा. देखूं तू अकेली कित्ता लावे है." बचवे को उसकी पहुंच से परे कर वह बोला.

"वे बात, तो तू ले जा इसे. तू इसका भी पेट-भर ले तो बोलना. देखूंगी मैं." उसने कहा और वह रोते-बिलबिलाते उसके बचवे को लेकर चल पड़ा. डेरे से दूर वह अकेली बैठी रोती रही. जुएं मारती रही. सूरज चढ़ा तो पेट में घुड़घुड़ी बजने लगी. उसे ध्यान आया इस नसेड़ी मरदुए ने बचवा को चा-पानी भी पिलाया होगा के नी. चार पैसे हाथ चढ़ते ही वह कलाली की गैल लेता है. बचवा बीमार है. कहीं वह उसे भी दो घूंट दारू नी पिला दे. इस सोच से ही उसे पसीना छूट गया. और अब वह 'उनकी' खोज में निकल गयी. गांजे के अखाड़ों से लेकर ठेके की दूकानों तक, गली हाट-बाजार सब नाप लिये उसने पर 'वह' कहीं नहीं दिखा उसे. घूम-फिरकर तीन-चार चक्कर अपने डेरे के भी लगाये उसने. वहां न वह था न उसका बचवा. अपनी जात-बिरादरी, सगे-संगियों से भी उसने पूछा, पर किसी ने 'बाप-बेटे' को कहीं देखने की हामी नहीं भरी.

भूखी-बेहाल, सोच में डूबी वह यहां-वहां शहर में डोलती रही. सांझ हो गयी पर उसे उसका बचवा नहीं मिला. दीवाली के दीयों का उजास फैला और उसका मन अंधेरे में डूब गया. भूख तो अजानी या परायी नहीं थी. उसकी रगों-नसों में रहती आयी थी. बचवे के विचार से उसके पैर कांप-कांप गये पर रुके नहीं. अब वह हाथ फैलाये केंद्र के सामने तने शामियाने के सामने खड़ी थी. तभी कुछ देने-दिलाने की बात कहकर उस बाबू ने उसे सूट-बूटवाले साहब के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया. दस रुपये का नोट लहराया और उसकी आंखों में गोल-गप्पे-से बच्चे की झांई तैर आयी. डाक्टर ने बचवे को देखकर कहा था, "कैसे भी हो. दूध का एक डिब्बा ले आ. कुछ दिनों अपना दूध इसे मत पिला. सूखा हो गया है इसे." उसे बचवा की फिर याद आयी. और नोट में खोंसकर वह बाबू के पीछे हो ली.

जवान बनी उस बूढ़ी चिकनी-चुपड़ी बाई ने जब उसे अपने ही बराबर आरसी के सामने खड़ा कर दिया तो वह अचकचाकर पीछे खिसक गयी. आरसी में खड़ी ये रूपवंती कौन ! वह पहचान नहीं सकी. ये वो सीलो है—नसेड़ी चन्ना की बू, सूखे बचवा की मतई, दर-दर हाथ पसारती भीखन? नहीं नहीं. और वह शीशे में उभरी अपनी ही परछांई से झेंप गयी.

बड़े मदरसे में पढ़ने वाली जवान-जबर छोकरी-छोकरी ही तो दीखे है, वह इन सुघरे-संवरे, रंगे-सजे भेस में. इधर वे लिखी-पढ़ी बाइयां भी तो कभी-कभार धरे हैं ऐसे भेस. वैसी ही थी ही, पहाड़ी भीलन वाली घघरिया, वैसी ही आंगू-मांग और वैसा ही फैला-फूला उभरा ओढ़ना. चोली-चीर से धुधकती छाती पे जे चांदी की संकल हंसली, कानों में बाले, बालों में जंगली फूल, फूलों में पत्ती और पत्ती में फिर रंग, हाथों में सीप घुंघची के कंगना, पैरों में... पैरों में जे जकड़बंद झांझार... अंगों में बेहिल ठहराव. आंखें कांच पर टिकी हुई और पत्थर बनी हुईं. अंधेरे ने कुछ देर पंख फैलाये ही थे कि वह इस कांच की खोल में बंद हो गयी थी. जब उजाला आया तो वह एक मूरती बनी इसमें खड़ी थी. रूखे तने-सी अचल. धौली टोपी वाला वह नेता बाबू जब आंख गाड़ उसे जो रहा था, तब उसके भीतर-ही-भीतर जैसे कहीं कुछ हिल गया था. वह थोड़ी देर और उसके सामने रुकता तो वह चिल्ला उठती कि 'मैं... मैं बेजान गुड़िया नहीं हूं. सीलू हूं सीलू भीखन. मेरा बचवा भूखा है. मैं भी भूखी हूं. बाकी दस का नोट और दो मुझे. मैं गबरू बच्चे छाप दूध का डिब्बा अपने बचवे के वास्ते लाऊंगी. उसे सूखा रोग है बाबू. मैं भूखी हूं.'

● आलमशाह खान

"मैं भूखी हूं...मेरा बच्चा भूखा है. मुझे भी दो पूरी-कचौरी, हलवा कुछ!"

वह न जाने कब कांच के घर के बाहर निकल आयी थी. तिरखा भी जा चुके थे और शर्मे-वर्मे भी. केंद्र के काउंटर बाबू को सब समझाकर मैनेजर को भी हिदायत देकर चला गया कि वह उस भिखारिन को दस रुपये देकर, कपड़े-जेवर सब उतरवा ले और रजिस्टर में जमा कर ले. उसे यूं भूख-भूख टेरते देख सब सकते में आ गये. बाबू को चेत हुआ तो देखा कि वह प्लेटों-प्यालों में बची झूठन को खा-चाट रही है. उसे अपने आंचल पल्ले का तो जैसे होश ही नहीं. नये लहंगे-लूगड़े को उसने चिकना-चुपड़ा होता देखा तो "हें, नासकर डाला सबका !" कहता हुआ वह आगे आया.

"अरे तो मिनमिनाये क्यूं बाबू, ला हमारा अपना लूगड़ा-लीतर और संभाल अपना लहंगा आंगिया."

"हां, हां, चल, उतार सब हमारा, संभलवाना है आगे."

"कैसे बोले, पर हमारे लीतर भी तो लाओ जो इन्हें उतार उन्हें फिर धार लूं मैं." बाबू ने सुना और पुकारा. "जंगो, अरे कहां है? इस भूतनी का सरोपा व ला दे, इसको."

"वो बाबू इधर पिछवाड़े इस्टोर में, कह दो इसे वहीं चली जाये और बदल लो." वह डाटक जवान जंगी कह गया और एक आंख को दबाकर कुंआरे बाबू पर ऐसा कुछ जता गया कि सीलो के पीछे वह भी चला.

दीपों के सिलसिले अब टूटने लगे थे. बिजली के बड़े डंडे-लट्टू अब कम हो गये थे और दुइयां जुगनू बल्ब का उजाला मांद-सा लगने लगा था.

"देख, संभल-सहजकर हटाइयो, लूगड़ा-लहंगा, मसक-मुसक न जाये कहीं, बड़ा महंगा है. नहीं तो हम हाथ लगा दें." स्टोर की बड़ी अलमारी के पीछे कपड़े बदलने को खड़ी सीलू से जंगी ने भेद भरी बोली में कहा और दोगली मुस्कान देकर उसके बाजू में आन खड़ा हुआ.

"अब जे मुंह झोंसा मरदुआ हमें सिखायेगा लूगड़ा-चोली उतारना-पहनना. चल-परे हो...सब ला हमारे लीतर, तभी उतारूं न जे कफन तेरा..."

"होय...होय, गजब की भरी, वो तेरा रेसम पाट तो वहीं रह गया, उसी सिंगार-घर में जहां तेरा जे चोला बदला था. उस सिंगारू बाई ने, तुझे भिखारिन से पर्बत सुंदरी बनाया था !" जंगी की सांस अब उसकी गर्दन-कानों पर तैर रही थी.

"वो सब भूल जा, ले आ मना ले मेरे संग दीवाली...नया लहंगा-लूगड़ा दूंगे तुझे, ऊपर दस का नोट और बस कम दो ही हैं और कोई नहीं." बिखरे-बौराये बोल बोले जंगी ने और झपटकर उसका आंचल भर लिया अपनी मुट्ठी में फिर उसे अपनी तरफ खींचते हुए एक झुरझुरी हंसी हंस दिया.

"ना ना...छोड़ मुझे अभी मैं हाका कर दूंगी, लोग भेली हो जायेंगे, छोड़..." इतना कहकर सीलो ने सब जेवर-जंजीरें उतारकर फेंक दी और छिटककर दूर खड़ी हो गयी. उसका आंचल अब भी जंगी के हाथ में था. जंगी आंचल खींचता उसके लपेट-पेच खोल रहा था. वह उससे परे होती-होती दरवाजे की तरफ हुई तो सामने बाबू खड़ा था. आंखों में जिंदा बोटी की भूख जगाये. इस छोर पर जंगी उस छोर पर बाबू, सीलू अपनी धौंकती छाती से आंचल सटाये दोनों के बीच सहमी खड़ी थी. 'सिपाई...सिपाई...सिपाई आ गये' की टेर हवा में कौंधी. जंगी और बाबू वह तो वह जा और वो जा. सीलू हवा के पैरों पर उड़ रही थी और वे दोनों पत्थर के पैरों पर ठुके खड़े थे. "साली नीच जात... धोखा कर गयी." जंगी बुदबुदाया. "मार गोली दगाखोर तिरिया को." बाबू ने कहा और दोनों चुप हो गये.

दीपावली की टूटती रात के उजाले-अंधेरे में वह उड़ान भरती सी उजले और नये कपड़ों से अपना आधा तन ढांपे अपनी झुग्गी के सामने जा पहुंची. उसके सामने लड़खड़ाते पैरों पर चन्ना खड़ा था—

"तो आ गयी पतुरिया. दीवाली मना के...वाह. तेरा निखरा-बिखरा जे रूप. बालों में पट्टी, गालों में गुलाल, आंखों में कजरा, बालों में गजरा...ये छमिया तेरा चीर कौन हर ले गया." चन्ना नशे में भी पते की और सही-सही बात बोल गया.

"चन्ना, मैं सौ लेकर कहूं, पर तू मानेगा नीं, जे सब..."

"जे सब भीख में दे दिया दाता ने, गालों पर झाल भी और गले में नख-मार भी. पे वे लूगड़ा चीर कौन हर ले गया. वा रे भोली सीलो...खूब मनायी तूने दीवाली, खूब किया उजाला तूने. लायी कुछ अपने बचवे-ललवे के हेत भी...या फिर..."

"लायी हूं. जे देख दस का नोट उसके लिए...डिब्बा दूध..."

"दस के नोट के बदले करवा लिया अपना काया-पलट. खोल दी कुत्तों के आगे अपनी छाती...पिला दिया दूध जारों को..."

"तू अभी नसे में है चन्ना. मुझे अपने बच्चे की सौं, मैं सांस रोककर, मजूरी करके, कांच के घर में पत्थर बनके...कलाक भर के लिए मरके जे दस रुपये लायी हूं, अपने बचवे के लिए."

"अपना चोला उजाल के, लाज लुटा के, लिख-पढ़े बाबू लोगों के साथ कलाक भर सो ली तो लगी लिकवर पिलाने. रात भर जो उनके संग होती तो अपनी खोली की गैल भूल जाती. चन्ने को, अपने बेटे को भूल जाती. पे मैं नी भूलूंगा. तैंने चन्ने के भरोसे को लुटा दिया, बेच दिया, मेरे बिसास को नंगा कर दिया...मेरी नाक कटा दी. मैं तुझे नंगा कर दूंगा..." इतना कहकर वह बिफरे चीते की तरह सीलू की तरफ झपटा और उसका ब्लाउज चीरकर चिंदिया कर दी. सीलू संभले कि तभी उसके हाथ में उसकी घघरी की लाव आ गयी. हाथों से अपनी लाज संभालती कि तभी वह उस पर टूट पड़ा. फिर बिफरकर बोला. "मैं आज अपने हाथों तुझे नंगी कर तेरी लाज लुटाऊंगा, अपने भाई-बाप के आगे." इतना कहकर वह उससे गुथ गया.

हड़बड़ी सुनकर पास के लोग खोली के पास आ गये तो देखा सीलू के डील पर कपड़ा नहीं और चन्ना उसकी छाती पर बैठा मुक्के तान रहा है. सीलू की मुट्ठी बंद है. मरद तो सब देखकर वहां से हट गये. बस गगनी बुआ आंख पर पल्लू धर चिल्लायी. "दे भी दे सीलू जो तेरी मुट्ठी में है, जे नसेड़ी कसाई नी मानने का." सीलू ने सुना और मुट्ठी खोल दी.

चन्ना नोट झपटकर बोला. "नहीं बुआ, नहीं, मुझे नहीं लेना इसकी लाज का मोल...नी पियेगा बचवा इसका दूध नी...कभी नी." और दोनों हाथों से नोट के टुकड़े-टुकड़े कर हवा में उछाल दिया.

बछड़े की जान पर आये संकट को जानकर जैसे गाय कुत्ते को सींग पर झेलती-झपटती है, वैसे सीलू बिफरकर उससे परे हो गयी और दांत कटकटाते हुए गरजी—

"नसेड़ी, नाड़कटे, मैं तेरा लात-घूंसा, जोर-जबर, झेलती रही अभी तक. जे समझ के कि अपनी सतफेरी की लाज लुटी जान मेरा पति-परमेसर हलकान परेसान हो रिया...पर तैंने तो मेरे बचवे का नोट फाड़ दिया...उसके दूध भरे डिब्बे पे ठोकर मार दी...अब मैं तुझे नी छोडूंगी...तू...तू मेरे बचवे का बैरी !" इतना बोलकर वह बिफरकर झपटी और उसकी पकड़ से छूटकर उसे यूं धकेला कि वह चित हो गया. अब वह उसके सीने पर चढ़ बैठी फिर दोनों हाथों से उसके मुक्के मारने लगी. वह उसके मुक्के मारती जाती...अपने बाल नोचती जाती थी. उधर उसका बचवा गगनी बुआ की गोद में मिमिया रहा था. □

● 43, भूपालवाड़ी, उदयपुर, (राजस्थान) 313001

सैकड़ों वर्षों की गुलामी के बाद आजाद हुए मुल्क को जरूरत थी ऐसे माहौल की, जिसमें गुलामी का अस्तित्व तक मिट जाता ! लेकिन ऐसा नहीं हो सका. जिन्होंने ऐसा करने का बीड़ा उठाया था, कहां चले गये वो लोग और क्यों खत्म हो गया वह माहौल और वह जज्बा?

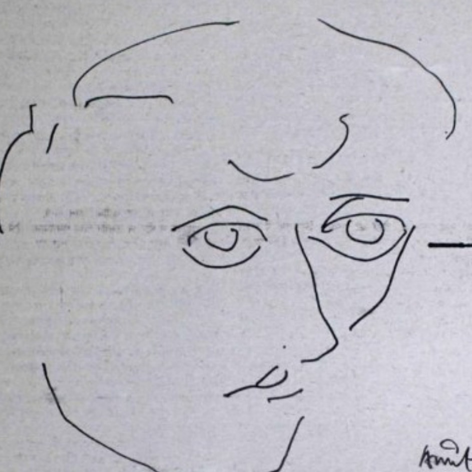

गुमनाम

बीर राजा

भव्य गुरुद्वारे की ऊंची सफेद इमारत दिखायी दी. वही इमारत थी, बिलकुल वही. चमकता हुआ सुनहरा गोल कलश. आसमान को छूता निशान साहब. चारों तरफ फैले खेतों और दरख्तों के दरम्यान एक जादू की तरह घिरा. इमारत को देखते ही मन में पहली बात उठती कि यहां मीलों तक आबादी नहीं, फिर इतनी बड़ी इमारत कैसे तामीर हुई होगी.

सब वही होते हुए भी पहले से बदला हुआ महसूस हुआ. शायद नयी सड़क से बहुत जल्दी पहुंचने के कारण या फिर इस बार सब पिछली तरफ से देखने लगे. कुछ बाबे की बानी गुनगुनाने लगीं. सामने दरिया था और

पुल, नई सड़क तथा बांध की तारीफें करने लगी. सामने दरिया था और पुल भी. हवेलियां भी दिखाई दीं जिन्हें पेड़ों ने अपने ओट में लिया हुआ था. उनके पीछे की झोंपड़ियां दिखायी नहीं दीं...कुदरत भी उन्हें हमेशा ढक देना चाहती है शायद...बस पुल पर रुकी. अपना झोला और कैमरा उठाया और नीचे कूद गया. अब भी पुल की मुंडेर पर था. नीचे बहते पानी में झांकता हुआ जल वही था लेकिन आज बहुत शांत था. सिर्फ पुल के खंभों से टकराने का शोर ही यह अहसास कराता कि दरिया खतरनाक भी होता है. किसी की तेज तीखी आवाजें सुनायी दीं. कोई गालियां बकता और ड्राइवर को इशारे करता सरपट भागा आ रहा था. ड्राइवर भी गालियां देता हार्न बजा रहा था. वह भागता हुआ ठिठका और एक हल्की सी आवाज के बाद एक बुत की तरह जाम हो गया. वह मुझे देख चुका था. आज उसकी आंखें बंद नहीं थीं. एकदम खुली और चुस्त. विस्मय से भरी हुई. "तू चलना है कि नहीं कंजरा?" कंडक्टर गालियां दे रहा था.

"नहीं जाना बादशाहो...दौड़ो..."

"बेटा दिने ही चढ़ गयी है आज..."

सवारियां हंस रही थीं. ड्राइवर हार्न बजाता बस ले उड़ा. जैसे उसने मुझे सिर्फ फौजे से मिलाने के लिए बस यहां रोकी थी. उसके लिए मेरा सामने होना किसी चमत्कार से कम नहीं था. मैं उनमें से भी नहीं था जो कभी-कभी यज्ञ के दिनों में ही यहां आ जाते हों. एक उतावली हलचल उसकी आंखों में थी. उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे कैसे संबोधित करे. सहसा वह चौंका और मेरे पांव छूने के लिए झुका. तभी उसे कुछ याद आया. झिझका. झुके हुए हाथ लौट गये.

मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया जिसे उसने तुरंत दबोच लिया जैसे उसे इसी की जरूरत थी. उसकी आंखों में एक चमक खिल उठी जो किसी शंका के खत्म होते ही आंखों में स्वयं ही खिल उठती है. चेहरा उसका तमतमा उठा. वह सारी खासियाहट रफू हो गयी जो उसके चेहरे पर अभी दिखायी दी थी. पांव की तरफ हाथ बढ़ाते हुए. वह खो गया. बहुत पीछे उसी बात को याद करता हुआ. वह वहीं था. इसका अनुमान तभी लग चुका था जब उसके हाथ रुके थे. मैं भी उसी धूल से भरी सड़क पर था. पांच वर्ष पीछे. वह मेरे साथ साथ चल रहा है...उसकी गप्पें सुनता. खेतों में काम करते लोगों. सड़क पर चलते हुए किसानों की बातें सुनाते हुए मैंने सोचा था कि कम से कम इनके पास इतना वक्त तो है ये घंटों बातें तो कर सकते हैं...

उस दिन हम तड़के ही वहां पहुंचे थे. मेरी ससुराल वालों की यह सुखना और रीत थी कि वे अपने हर दामाद को यहां लेकर आयेंगे और गुरू के दरबार में माथा झुकाएंगे. सिर्फ मैं ही यहां नहीं आया था. मेरे साम्यवादी विचारों ने उन्हें मुझसे कुछ कहने का साहस नहीं दिया था. शादी के बीस वर्ष बाद उनकी मुराद पूरी हुई थी. कभी वे यहां के हाकिम थे, पक्की हवेलियों वाले. अब हवेलियों में कोई नहीं रहता.सब शहरों में जाकर बस गये हैं. केवल एक परिवार रहता है, वह भी अपने फार्म पर.

यहां पहुंचते ही लोगों की एक कतार दिखाई दी थी. सब बारी-बारी हम सबके पांव छूने लगे. मेरी सास हर पांव छूने वाले को कुछ नोट थमाती. उनकी राजी खुशी पूछती. बीच बीच में किसी का नाम भी पुकार लेती.

जब पहला आदमी मेरे पांव छूने झुका था तो मैंने डांट दिया था कि खबरदार अगर किसी ने मेरे पांव छुए.

"ला पैरी हाथ. कुतया जवाई है हमारा. नहीं ते छितरौल होगी." किसी ने डांटा था उसे.

मैंने सख्ती से फौजी की बांह पकड़ ली थी. कतार में एक खामोशी छा गई सभी सहम उठे. सब फौजी की तरफ देखने लगे.

"ओ कुत्ते..."

यह एक अनहोनी थी उनके लिए पर मेरे लिए नहीं.

"अपनी इस प्रजा पर ही नजरें मेहर करो और उन पर भी..." मेरा इशारा बहते हुए दरिया और चमकते गुरुद्वारे की तरफ था.

मेरी बात किसी को अच्छी नहीं लगी. गुरुद्वारे के प्रबन्धकों को भी वे भी उनसे चिढ़े हुए थे. मेरी पत्नी को भी मेरी बात बुरी लगी. उसने तड़ाक से कहा था कि आप हर जगह अपनी लीडरी चलाते हैं. अब यही हमारे सामने मुंह खोलेंगे. हमारे शब्द में उसने मुझे शामिल नहीं किया था...वह बीस वर्ष बाद भी वहीं थी यानि अपने वर्ग में...

"कुछ नहीं होगा. सिर्फ आप यहां इस तरह नहीं आ सकेंगे." मेरी यह बात कील की तरह चुभी थी उसे. उसने मुंह फुला लिया...शायद उसमें वह दुख भी शामिल था जो मुझसे बंध जाने के बाद उसमें रिसता रहता. उस दिन पहुंचते ही बच्चे सब कारें लेकर उधर चले गये जहां दूर तक धरती पर पानी ठहरा हुआ था. जो हर बाढ़ के बाद यहां जमा हो जाता. कम होने तक फिर बाढ़ आ जाती. उस पानी पर प्रवासी परिंदे हर जाड़े में अपना अधिकार जमा लेते. जल पर सैकड़ों-हजारों परिंदे बहुत अच्छे लगते. जो भी यहां आता है सबसे पहले वहीं भागता है. किसी को यह बात सोचने की फुरसत तक नहीं होती. उस धरती के किसान कहां प्रवास कर गये हैं?

मेरे छोटे लड़के के सिर में चोट लगी थी. मुझे कार की जरूरत थी कार थी नहीं. दवाई दस कोस से पहले उपलब्ध नहीं थी. फौजी ने कुछ पत्तों का रस निचोड़ कर जख्म पर डाल दिया.

"फिकर न करो जी...बिलकुल चंगा हो जायेगा.

मैं दवा लेने पैदल चल पड़ा. थोड़ी दूर चलने के बाद महसूस हुआ कि कोई मेरे पीछे-पीछे आ रहा है. पीछे फौजी था...वह रुक गया और उसने आंखें मींच लीं. तन कर खड़ा हो गया बिलकुल उन बुतों की तरह जो शहर में सड़कों पर खड़े होते हैं लेकिन गांव में बुत नहीं होते सिर्फ लोग होते हैं जिनके बुत कभी नहीं बनते.

"चलना है तो भाई फिर मेरे साथ साथ चल." वह नजदीक नहीं आया. एक झिझक. डर और हैरानी उसके चेहरे पर थी जिसे उसकी बंद आंखें भी न छुपा सकीं.

"यारा पैंडा लंबा है. कुछ गपशप ही रहेगी" मैं जानता था. मेरे पीछे आने में एक कशिश तो थी ही झिझक में एक खौफ भी शामिल था. कड़ी सजा का.

झिझक कुछ कम जरूर हुई मगर बीच का फासला बरकरार था. फासला आज का नहीं था. सैकड़ों वर्षों से. जबसे उसके पुरखे मेरी ससुराल वालों के पुरखों की सेवा और राखी कर रहे हैं. शायद इससे भी पुराना जब किसी जाबर ने उनसे उनकी धरती छीनी होगी. उस फासले को खत्म करने के लिए उसमें कुछ भरना जरूरी था.

मुझे शुरू के वे दिन याद आ गये जब दूसरों को बदलने के लिए दीवानगी की हदों को पार करता हुआ एक जनून मुझ पर सवार हो जाता. अब न वे दिन थे. न ही वह माहौल. न ही वह उत्साह और लगन रह गयी थी मुझ में. उस जनून और जिद की दुनिया से कितनी दूर निकल आया हूं मैं...जहां आज हूं यहां कैसे आ पहुंचा हूं मैं?"

इस सवाल और इसके जवाब से मैं बचना चाहता था. मैं सीटी बजाने लगा था. सीटी कुछ ऐसे ही क्षणों में स्वयं ही बज उठती है जब मैं बचना चाहता हूं दूसरों से नहीं. खुद से. मैंने तुरंत एक जनून अपने ऊपर ओढ़ लिया और पुराने दिनों में पहुंच गया. कहीं मेरी वह ताकत खत्म तो नहीं हो गयी? मेरा खेल शुरू हो गया था.

मैंने उसे पुकारा था. अरे भाई पास आओ. वह दायें से कुछ बायें जरूर आया. पर दूरी कम न हुई. कितने बाल-बच्चे हैं तेरे? कमाल है तेरे भी दो और मेरे भी दो और गांव की दीवारों पर भी दो की ही मूर्तें बनी हुई हैं. माचिस है? सुलगा यार. उसका सिगरेट जला जरूर पर चुपके में मसल कर बुझा दिया उसने और कान में अड़ा लिया. सिगरेट पीना हाकिमों की नजरों में बेअदबी थी. "अरे हम दोनों के सिगरेट बुझ गये." इतना सुनते ही वह हंस पड़ा.

"मैं भी तेरी तरह का बंदा हूं...तेरी तरह पैदा हुआ फिर तू यह तमाशा क्यों कर रहा है?"

खी-खी करता हुआ वह कुछ बाईं तरफ और खिसक गया. मैं भी चिपकता गया. वह गड्ढे में गिरा. साथ में मैं भी.

"दूर रहो जी. सौ रब दी असी कमीन जी..."

"जब आज तक पांव छूने से कुछ नहीं बिगड़ा किसीका फिर हाथ छूने से क्या हो जायेगा?"

मुझे लगा वह हजारों सालों के फासले को चीरता हुआ मेरे पास आकर खड़ा हो गया है और पूछ रहा है कि मैं आज तक कहां खोया रहा हूं? मुझे लगा. हकीकत में ही मैं खोया रहा हूं. मैंने खुद को उससे छोटा महसूस किया. उसने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा और कुछ सोचने लगा था. अचानक वह मुस्कराया. उसने कपड़ों से धूल झाड़ी अपने से भी और मेरे से भी. मेरी दलील काम कर गई. उसके चेहरे और आंखों की चमक में कोई नई चीज शामिल हो चुकी थी.

"हो जाये फिर सुट्टा...क्या याद करोगे..."

अब हम साथ साथ थे. कश पर कश खींचता हुआ वह उस भोले बच्चे की तरह लगा जिसे पहली बार खुली छूट मिली हो. मैंने उसे दूसरा सिगरेट दिया और साथ में पैकेट भी थमा दिया.

"मजा आ गया."

अब मेरा खेल खत्म हो चुका था. मैं उससे उसी मन से जुड़ने लगा जिस तरह शुरू के दिनों में लोगों से जुड़ा करता था.

"गन्ना चूसोगे?"

मैं चौंका और तुरंत कहीं से लौट आया. मेरे सामने दूर तक फैले हुए खेत थे. दरख्त थे. खड़ी फसलें थीं. सरसों पर थिरकती तितलियां थीं. सब था लेकिन अब सब एक दृश्य भर नहीं था. एक दूसरी ही तस्वीर थी. यहां से आने की वजह सिर्फ दवा ही नहीं थी...उनकी दुनिया से भाग कर कुदरत की अनोखी खूबसूरती का आनंद उठाना भी था.

अब उसमें एक अद्भुत भूख और साहस जाग उठा था. खेतों से गन्ने मूलियां. गाजरें और न जाने क्या क्या तोड़ता रहा. रास्ते में जो भी मिलता रोककर बताता कि मैं वही जवाई हूं जो आज तक यहां नहीं आया. मैं उनमें नास्तिक के नाम से मशहूर था. देहाती किसानों की बोली तथा उनके सवालों का जवाब देते ऊब जाता. देहात के लोग दूसरों को अंदर तक भांप लेते हैं. इसी डर से सहज हो उठता. पहली बार अहसास हुआ जब ये सब हमारे लिए इतने अजनबी हैं और खीज का कारण भी बन सकते हैं तब ये हमारे करीब कैसे आ सकते हैं?

"देखो हजूर...जहां तक आंख जाती है एक बार देख लें. सब धरती कभी हाकिमों की थी. अब नहीं है. जो है वह भी घट नहीं. आने वाली पुश्तें भी खत्म नहीं कर सकतीं...दूर अंदेश मनुख है हाकिम..." जो बातें ससुराल तथा पत्नी से कभी मालूम न हुई थीं वह बताने लगा. चार-पांच सौ वर्ष पहले यहां हाकिमों का बड़ा व्यापार और जमींदारी थी. मध्य एशिया से तिजारत का कभी यही मार्ग था. दरबार में रसूख रखने वाले लोग. चार सौ वर्ष पूर्व साठ मील दूर पर एक शहर के जन्म के बाद. हाकिम भी वहीं बस गये. पर उनकी हवेलियां और धरती हमेशा आबाद रही. अंगरेजी राज में वे बड़े बड़े शहरों में चले गये. उनका व्यापार नये देशों में बढ़ गया. उनके कई आधुनिक धंधे चल निकले. वक्त गुजरने के साथ उनकी हवेलियां वीरान होने लगीं. पक्की हवेलियों वाला गांव खंडहर बन गया.

मैंने उसे देखा. वह बैठा तो था कांटेदार कीकर के साये में. पर था उस इतिहास में जिसे कच्ची झोंपड़ियों में रहने वाले अपने पुरखों से सुनते आ रहे हैं. ठंडी हवा के झोंके कीकर के कांटों की तरह चुभने वाले थे पर हमें उसका एहसास भी नहीं था.

"हमारे हाकिम कभी बेरहम नहीं रहे. हाथ जोड़ कर बातें करने वाले. अब वह बातें नहीं रहीं. खून तो वही है जी हजूर. ब्याह शादियों पर जी खोल कर देते हैं हमें... यह न हो तो हम भूखे मर जायें..." उस सुबह यहां पहुंचते ही जब कारें हवेलियों के सामने रुकीं थीं तो सब एक स्वप्न लोक की तरह लगा था. एक ऐसी हकीकत जिसे देख कर भी सपने का गुमान हो. सुर्ख छोटी पक्की ईंटों से बनी दो मंजिला हवेलियां जिनके बड़े-बड़े फाटकों में कभी ऊंट हाथी और घोड़े समा जाते होंगे खंडहर बनी सामने थीं. किसी एक हवेली में भी जिंदगी के आसार नहीं थे. ईंटों के ढेर. गिरे मलबे. दरवाजे. बुर्जियां और दूर तक फैले खेत. इतने खुले में आसमान की नीली

● बीर राजा

छत के नीचे सब अपनी आंखों से देखना किसी तिलिस्म से कम नहीं था. कोई यादगार हो किसी दुनिया की. वक्त से कितना आगे और विकसित होंगे इन हवेलियों के लोग...तब भी आगे और आज भी आगे. नहीं तो इन हवेलियों में होते. उनका मोह कुछ और है.न धरती. न हवेलियां...बूढ़ी बेबे सबको बता रही थीं. जब वे ब्याह कर आयीं थीं उन्हें सबसे पहले हवेली दिखलाने लाया गया था...कहां रातें हुई थीं...वे किसी गड़े खजाने और डकैती की बातें भी कर रही थीं.

फौजी की बातें सुनने के बाद लगा था कि हवेलियों के लोग दूर अंदेश तो थे ही साथ में चालाक भी थे. उन्होंने अपनी धरती की सीमा पर ही गांव बसाये थे. सिर्फ अपनी हिफाजत के लिए ही. नाकेबंदी.

बाजार में भरपूर जिंदगी दिखाई दी. जरूरत की चीजें. ट्रैक्टर.वर्कशाप.कपड़े की दुकानें. चारा काटने की मशीनें.खेती बाड़ी के औजार. हलवाई. चाय के स्टाल. हकीम तथा डाक्टर सभी थे उस बाजार में. पर यह सब यहां नहीं था. यहां थीं सिर्फ हवेलियां जिनकी सुरक्षा और रखवाली के लिए कभी ऐसे गांव वजूद में आये होंगे. गांव में जिंदगी सिर्फ इसलिए थी क्योंकि यहां के लोग किसी बख्शीश पर नहीं जिंदा रहे. बल्कि अपनी मेहनत के बल पर ही खड़े हैं.

दवा खरीदते हुए ऐसी बातों का ध्यान आना मेरी आदत के मुताबिक था. साथ में दवा की कड़वी गोली की तरह एक बात मन कसैला कर गयी कि बीमारी में फौजी के गांव के लोग क्या करते होंगे? गुरुद्वारे की डिस्पेंसरी केवल यज्ञ के दिनों में खुलती है. इस बात पर शर्म महसूस हुई कि हवेलियां देखते हुए झोंपड़ियों तथा उनसे जुड़े इतिहास का ध्यान क्यों नहीं आया? सदियों के बाद भी इनकी हालत क्यों नहीं बदली? हर दिशा से इतने ओझल कैसे रह गये? क्या आज भी समय इन्हें खिदमतगार समझता है? जिधर निगाह पहले जानी चाहिए थी. क्यों नहीं गयी? हवेलियों को देखते हुए झोंपड़ियां. गायें. भैंसें. बकरियां. सूअर. मुर्गियां. भौंकते कुत्तों. गोबर तथा कीचड़ की बू में सब देखते हुए भी सब महसूस क्यों नहीं कर पाया था?

पिछले वर्षों में हुए सरकारी अनुदान तथा राहत कार्य की कार-गुजारियों की नुमायश करने के लिए फौजी के गांव में कोई पक्की जगह नहीं होगी. तभी गुरुद्वारे की दीवार पर वह पत्थर लगा था जिसमें तीन मंत्रियों के नाम अंकित थे. जो यहां हरिजन उद्धार के लिए आये थे. पत्थर के नीचे गुरुद्वारे का कूड़ा पड़ा था...

अपनी उदासीनता पर दुख हुआ. मामूली सुविधाएं और आराम प्राप्त होते ही हम दूसरों को क्यों भूल जाते हैं? अपनी उंगली से खून टपकने पर ही क्यों पीड़ा होती है...क्या मैं भी इसी मर्ज का शिकार हो चुका हूं?

मामूली बीमारियों में काम आने वाली दवाइयां खरीद कर बंडल उसे पकड़ा दिया. इससे वह इतना कृतज्ञ हुआ कि उसकी आंखें गीली हो गयीं. पहली बार उसे भीख और दोस्ती के जज्बे के फर्क का एहसास हुआ. स्टाल पर पकौड़े खाता हुआ बार-बार वह मुझे देखता और फिर पकौड़ों पर टूट पड़ता. कभी फिर झिझक कर रुक जाता. उसके अंदर के डर को मैं समझ

रहा था. मेरे साथ खाना उसके नाश का कारण भी बन सकता था. पकौड़ों और जलेबियों का भी अपना अलग लोभ होता है, जिसे मैंने उन दिनों चखा है, जब दो-दो दिन खाने को कुछ नहीं मिलता था.

हमारे इर्द गिर्द कानाफूसियां हो रही थीं. सब फौजी पर ताने कस रहे थे, कई उस पर तरस खा रहे थे.

"डर नहीं किसी साले की हिम्मत नहीं जो तुझे कुछ कहे. ये सब यहीं आकर हुक्म चलाते हैं. होटलों में सबके हाथ का बना खा लेते हैं."

"की?"

पकौड़ा उसके हाथ से नीचे गिर पड़ा. उसका मुंह खुला रह गया. उसने अविश्वास और अचरज में मुझे घूरा. मेरे मुंह से हाकिमों के लिए गाली सुनना उसके लिए किसी दूसरी दुनिया की बात थी. उसने मेरे दोनों हाथ अपनी गिरफ्त में जकड़ लिये.

"तेरी झोंपड़ी कच्ची है या पक्की?"

"अपनी किस्मत ही कानी है."

"ऐसा क्यों है?"

वह खामोश था. उसका चेहरा बुझ गया. आंखें बंद-सी हो गयीं. पर उसकी पकड़ पहले से भी मजबूत हो गयी. गरमजोशी से भरपूर.

"उनकी भीख तुझे मेहर और इनाम लग रही है. जो गलती किसी मजबूरी में तेरे पुरखों ने की क्या वह रीत बन जायेगी? कभी उन्हें भी यह जमीनें किसी बड़े हाकिम को खुश करके भीख में मिली होंगी. क्या मालूम इसके लिए उन्होंने नीच काम भी किये हों..."

चलते हुए दूर खेतों के बीच तीन-चार मिट्टी के ऊंचे टीलों पर उसकी आंखें टिक गयीं. डूबता सूरज हर चीज पर लाल-सुनहरी रंग बिखेर रहा था. फौजी का चेहरा, खेत, दरख्त, आकाश सब उसी रंग में दहक रहे थे.

"तेरी जगह अगर मैं होता तो उनकी हवेलियों की ईंटों से ही अपना घर पक्का बना लेता."

वह ठिठक कर खुशी में मुझे देखने लगा, जैसे लंबी यात्रा से लौटने के बाद उसने कोई सुराग पा लिया हो मेरे चेहरे पर. लेकिन मैं कटकर बहुत पीछे जा चुका था. जब मैं बारह वर्ष का था. अपनी तड़प से छोटी उम्र में ही राजनीति में खो गया था, इस दुनिया को बदलने के लिए.

उस दुनिया से किसने काट कर मुझे अलग किया? इसका जवाब मुश्किल था. शुरुआत उन्हीं दिनों हुई जब सब चुनकर ऊपर चले गये. खतरे खत्म हो गये...मेरा स्वर जो सत्ता तथा अन्याय का विरोध किया करता अब अपनों का विरोध भी करने लगा. अपनी ही दुनिया में हम गैर बन गये.

वही फौजी आज सामने था.

आंखों में चीते जैसी चमक. चुस्त. हाथ में "डंडा". तराशे बाल. कमीज. पतलून. पांव में जूते.

"पुल गये बरस बना है. बांध चार बरस पहले खड़ा हो गया था." वह पिछले वर्षों में हुई तब्दीलियां गिनाने लगा.

बांध से आगे सड़क के पीछे दूर तक फैले पानी पर परिंदे ही परिंदे थे. आकाश में उड़ते परिंदे. परिंदों से ढके दरख्त. पानी पर तैरते परिंदे.

हम बांध पर रुक गये. पत्थरों ने उस धारा को रोक दिया जो कभी एक खूंखार दरिया की तरह बहती हुई गांव के गांव तबाह कर रही थी. धारा झील बन चुकी थी. कितना सच कहा था मेरी कहानी के पात्र ने कि यह धारा झील बन जायेगी.

आज उसी झील को देखना एक बहुत बड़ी बात थी मेरे लिए पानी पर तैरते परिंदे. समाधि लगाये बगुले. गुरुद्वारे की इमारत का डोलता हुआ प्रतिबिंब पेड़ों की छाया. हवेलियां. और दूसरी चीजों के अक्सर थिरक रहे थे. पर मैं कहीं और था...

"कुछ कहा आपने?"

मैं शायद बड़बड़ाया था. हां तो यहां सब बदल गया है. मैं वापस लौट आया. जहां पहले कोई आदमी दिखाई नहीं देता था वहां अब जिंदगी के आसार दिखाई दे रहे थे.

मैं यहां कभी न आता. कल मेरे ससुर ने बताया कि बांध बनने के बाद पानी की धारा एक झील बन गई है. उजाड़ जगह एक आधुनिक औद्योगिक केंद्र बन रही है. इतनी-सी बात सुनने के बाद मैं पूरी रात सो न सका. सुबह पहली बस से यहां पहुंच गया. पिछली बार यहां से जाने के बाद मैंने दो कहानियां लिखी थीं. एक कहानी यहां की खूंखार धारा पर थी जिसके तेज मार से छोटे छोटे किसानों की जमीनें रेतीली और बंजर हो चुकी थीं. सब धरती बेच कर एक धनी किसान के जाल में फंसते जा रहे थे. उसी कहानी में एक लड़के ने गुस्से में कहा था कि यहां से पानी अब खत्म नहीं हो सकता...यहां झील बनेगी और हमारे जानवर यहां पानी पिया करेंगे...बांध बनाने का ठेका भी उसी धनी किसान के पास था.

दूसरी कहानी हवेलियों के हाकिमों पर थी जिसके अंत में मैंने कहा था कि यदि उन्हें पता चल जाये कि यहां लौटने पर उन्हें शहरों से अधिक लाभ होगा तो वे फिर यहां लौट आयेंगे...पर वे हवेलियों में न रहकर आधुनिक मकानों में रहेंगे...

अब हम दोनों नाव में थे.

सरकती हुई नाव हमें वहां ले गयी जहां हमें उतरना था. पिछली बार वहां नाव-पुल था. अब न पुल. न धारा. पुल की नावें रेत में धंसी पड़ी थीं. तख्ते उखड़ कर बिखरे पड़े थे. किनारे के साथ टूटी टहनियां. किसी बच्चे का खिलौना. रबड़ की चप्पल हल्की लहरों पर चपकियां खाती डोल रही थीं.

"छेती करो जी. कुछ दिखाना है" उसकी हड़बड़ाहट में कोई हलचल बहुत आतुर लगी.

"बहुत बड़ी बात है...तुसी बूझ नहीं सकते." उसका चेहरा दमक उठा.

मैं उसे तकने लगा.

"मैंने चिठियां डालीं. तुसी जवाब नहीं दिता?"

"चिठियां?" मैं चौंक उठा. यह बात मुझे अंदर तक छू गयी. मुझे उसका एक पत्र भी नहीं मिला था. मैं तेजी से उसके साथ बढ़ने लगा. अंदर एक कौतूहल मच गया, न जाने अब क्या देखने जा रहा हूं मैं? सामने सड़कों का जाल. बाजार. दुकानें. चाय के स्टाल. अखबार बेचते हाकर. भागते ट्रक. जीपें. टैम्पो. ट्रैक्टर. बसों का अड्डा. खड़ी बसों के गिर्द मंड्राते छाबड़ी वाले. साइकिल पर दो ड्रम बांधे डीजल बेचता हुआ एक आदमी... एक ऊंचे बोर्ड पर उन उद्योगों की सूची थी जो वहां लगने जा रहे थे. तीर का निशान उधर संकेत कर रहा था जिधर फैक्टरियों के शेड ऊपर उठ रहे थे. उधर चहल-पहल और शोर भी था. गति थी. यहां सब बदल जायेगा. चिमनियों से धुआं उठेगा. वह सब यहां भी होगा जो यहां की धूल से अभी कुछ ही दूर है. एक नयी तरह का फरेब यहां भी हावी हो जायेगा.

दो कारें धूल उड़ाती हुई पास से निकल गयीं. उनके पीछे किसी पुलिस अफसर की जीप भी फुर्र से निकल गयी.

"अपनी मौजें हैं अब. कई बार कार की सैरें की हैं मैंने."

फैक्टरियों के सभी बड़े प्लाट हाकिमों के परिवारों ने खरीद लिए थे. जमीनें सस्ती बिकी थीं. इमारत और मशीनों के लिए अनुदान. बिना सूद का कर्ज. बिजली तथा अन्य सुविधाएं सरहद के पास होने के कारण दूसरी जगहों से अधिक थीं.

चकित करने वाली बात थी कि इंडस्ट्रियल एरिया के सभी प्लाट हाकिमों की जमीनों की हद से बाहर थे. इसका एक ही अर्थ था कि बाद में उनकी जमीनें मुंहमांगे दामों पर बिकेंगी. हवेलियों को देखकर वह रोमांच नहीं हुआ, जो पिछली बार तारी हुआ था. उनमें इस बार जिंदगी थी. मरम्मतों के पैबंद हर दरो-दीवार पर थे. छोटी ईंटों पर बड़ी ईंटें फोड़ों की तरह दिखाई दीं. हर हवेली पर टी. वी. का ऊंचा एंटीना कबों के बैठक बना हुआ था. हर हवेली से फिल्मी गानों की आवाजें दूर से सुनी जा सकती थीं ठेकेदारों के कर्मचारी, बड़े बाबू, छोटे इंजीनियर आदि हवेलियों में बस चुके थे. अब हम वहां थे जहां मुझे लाने के लिए वह मतवाला हो रहा था.

जो मेरी आंखों के सामने था उस पर यकीन नहीं हो रहा था. लेकिन सब एक ठोस हकीकत की तरह आंखों के सामने था. तैश और क्रोध में कही हुई बात एक शक्ल अख्तियार कर चुकी थी. जिसके पीछे कुछ कर देने की आग भी दिखाई दी. एक गहरे असर के साथ. सब झोंपड़ियां हवेलियों की छोटी ईंटों से पक्के कमरों में बदल चुकी थीं.

"कुछ याद आया?" खुशी से उसकी आंखें छलछला आयीं. सबने एक दीवानी खुशी में मुझे घेर लिया. मैं उनमें उनके किसी घर के आदमी की तरह परिचित और उसका अपना था. हमेशा उनमें रहने वाला.

हमारे विचारों की एक छोटी-सी लौ ने इस गुमनाम गांव को बदल कर हवेलियों से अलग कर दिया. वह फासला जो वक्त न ला सका वह एक छोटी सी चिंगारी ने पैदा कर दिया. तब हमारे विचार ऐसे लोगों में दिलों की धड़कनें क्यों नहीं बन पाये?

मुझे लगा यह गांव हमारा है. इसका जन्म हमारे विचारों की शक्ति से हुआ है. अब ये जहां भी होंगे लड़ सकते हैं भले ही इनकी झोंपड़ियां गिरा दी जायें...

"आपके बारूद ने मसाले का काम किया जी." उसने ठेठ पंजाबी में कहा लेकिन अर्थ वही थे जो मैं महसूस कर रहा था.

"मकान बड़ी ईंटों से क्यों नहीं बने?"

"बड़ी ईंटें?"

अब उन्हें छोटी ईंटों की जरूरत नहीं...देखते नहीं हवेलियों की मरम्मत भी बड़ी ईंटों से हुई है."

मेरी बात के साथ ही वे कोई संकेत भी पा गये. वहां आपस में कानाफूसियां होने लगीं. दरअसल यह बात मैंने एक उदासीनता में डूबकर ही कही थी. बार बार मेरी निगाहें पूरे गांव पर टिक जातीं. एक गर्व मुझमें भर जाता और मैं तप उठता. पिछली बार वाली उतावली फिर लौट आयी. ऐसे लोहे को और तपने की जरूरत है...मैंने उसे तपाना शुरू कर दिया. दिन भर वह मुझसे चिपका मेरी बातें सुनता रहा.

एक कार मेरी तलाश में घूम रही थी. उन्हें मेरे आने की खबर मिल चुकी थी. वे जानते थे मैंने कई वर्ष मजदूरों में बिताये हैं और कई बार बंद भी हो चुका हूं. वे क्यों मेरी तलाश में हैं यह मैं समझता था.

वे दो वर्ष पूर्व यहां आये थे. खूब दान किया. लंगर के लिए गुरुद्वारे का भंडार भर दिया. फौजी के गांव में कंबल और कपड़े बांटे एक अस्पताल और स्कूल के उद्घाटन के लिए मंत्री जी आये. उन्होंने आते ही एक सोये हुए इलाके में हरकत पैदा कर दी.

वे आपस में खूब लड़ते हैं लेकिन जब अपनी जमीनों पर आते हैं तो एक मुठ होते हैं और पहले से अधिक नेक बनकर लौटते हैं. इस बार वे लौटाने के लिए नहीं बल्कि अपनी जड़ों को हरी भरी करने आये थे. उन्होंने आते ही एक ऐसी दुनिया बना दी जहां उनके सब काम स्वयं हो गये. वे शुरू से ही हर जगह मौजूद हैं...बहुत पहले से. हर छोटा आदमी उनका हुक्म बजाने को तैयार रहता है. फौजी के गांव के लोगों ने सहर्ष स्टांप लगे कागजों पर एक-एक रुपये की किरायेदारी के इकरार नामे कर लिए थे. बिना किसी झगड़े-कचहरी के वे अपनी जमीनें हासिल कर चुके थे. औद्योगिक नगर के उद्घाटन वाले दिन जब कर्मचारियों की फौज ने उजाड़ हवेलियों की सफाई शुरू कर दी तब इलाके के लोगों को पता चला कि क्या होने जा रहा है.

सुबह हम बस स्टैंड पर थे.

उसने मुझे बस में नहीं चढ़ने दिया. यह सुनकर वह हैरान था कि चंद वर्षों में यहां की सैकड़ों वर्ष पुरानी जिंदगी कैसे बदल जायेगी. वह बहुत उलझ चुका था. हर बात को सुलझा लेने पर बजिद था. यह मेरी उलझन भी थी कि कुछ बरसों में यहां इतने झंडे. दफ्तर और नारे आ जायेंगे फौजी भी उनके गोरखधंधे में फंस जायेगा...

उसे फैक्टरियों में मजदूर सप्लाई करने का काम सौंपा था हाकिमों ने. जिस के इवज में प्रति मजदूर उसे कुछ रुपये मिलेंगे. उसने गरीब किसानों और मुजारों की एक फौज तैयार कर ली थी. भर्ती के बाद उसे वर्दी और बंदूक मिल जायेगी और फिर वह किसी एक फाटक का पहरेदार बन जायेगा.

"ए गलत कैसे है जी?"

"गलत नहीं है. पेट तो भरना ही है. कुछ करना भी है. पर होगी तो यह भी राखी ही. पहले हवेलियों की अब मिलों की."

"की?" उसकी आंखें सुलग उठीं "राखी नहीं करनी मुझे."

"अगर तुम सब एक मुठ हो जाओ और संगठन बना लो. तब ही तुम्हारी कोई ताकत हो सकती है. वे तुम्हें फुसलायेंगे. तोड़ेंगे. खरीदेंगे...ईमानदार रहे तो भूख. प्यास और जुल्म. बेईमान हो गये तो मौज और धन मिलेगा..."

"पल्ले कुछ नहीं पड़ रहा."

पहली बस के बाद दूसरी. तीसरी. चौथी. और कई बसें निकल गयीं. अब सामने आखरी बस थी. मैं चढ़ गया.

"रुक जाओ. अभी बहुत पूछना है. मैं अब चुप नहीं रह सकता...पर देखें किस की तरफ?" उसने गरमजोशी से मेरा हाथ पकड़ लिया. मेरे मन में आया. रुककर इसे साथ ले जाकर अपने पुराने साथियों के हवाले कर दूं. नहीं तो यहीं कोई चालाक इसे खत्म न कर दे. किस के पास जाऊं? उन्हें ऐसी बातों के लिए फुरसत ही नहीं है एक समय से. वे तो आपसी लड़ाई में ही व्यस्त हैं...एक दल के कई दल. उनमें भी गुट. मुझे अपने बहुत से साथियों के बहे खून की याद आयी...कहां गयी उनकी कुर्बानी? तब कौन करेगा फौजी की मदद? यदि अब फौजी जैसे लोग किसी परिवर्तन के लिए ऊपर बैठे लोगों की तरफ देखें तो इसमें उनका क्या कसूर?

बस चल दी. मैंने पछतावे और उदासी में घूमकर पीछे देखा. दूर खेतों में ऊंचे टीलों को बुलडोजर काट रहे थे. गांव. हवेलियां और सब बस से उड़ती धूल में धुंधले दिखाई दिए. फौजी बस के पीछे चीखता हुआ दौड़ रहा था. जरूर कोई गुत्थी उसके अंदर उलझी रह गयी होगी. □

● बी-110, इंदिरा नगर, लखनऊ-226016

लेखन का पहला उद्देश्य

इसाक सिंगर

मैं किसी पाठक के बारे में नहीं सोचता. मैं सिर्फ अपनी रचना के बारे में सोचता हूं. मैं अपनी रचनाओं का पहला पाठक होता हूं...और किसी भी रचना का मुझे खुश कर पाना बहुत कठिन है. जब अपनी कोई कहानी अच्छी नहीं लगती तो मैं उसे अपने एक बहुत अच्छे दोस्त को दे देता हूं. वह दोस्त है—रद्दी की टोकरी... मैं कल्पना करता हूं कि मेरे पाठक मेरे जितने ही बुद्धिमान हैं और जिंदगी के बारे में उन्हें वह सब कुछ मालूम है, जो मुझे मालूम है. मैं अपने कुद 'निर्देश' देना चाहता हूं. कुछ लेखकों में यह हमेशा डर बना रहता है कि उनके पाठक उन्हें नहीं समझेंगे. कुछ लेखक समझते हैं कि वे कहीं बहुत ऊंचाई पर खड़े हैं और उनके पाठक कहीं बहुत नीचे. मैंने यह कभी नहीं कहा कि लेखन का एकमात्र उद्देश्य मनोरंजन है, लेकिन मनोरंजन लेखन का पहला उद्देश्य है. किसी रेस्तरां के बारे में पहली बात जो प्रभावित करती है—उसका खाना. इसके बाद ध्यान जाता है कि वह साफ-सुथरा है या बैरे नम्र स्वभाव के हैं या नहीं? मनोरंजन कम से कम और अवश्य मिलने वाली वस्तु होनी चाहिए. संदेश उतना आवश्यक नहीं. वे कहानियां सिर्फ कमजोर कहानियां होती हैं, जो किसी संदेश का सहारा लेकर ऊपर चढ़ने की कोशिश करती हैं. □

पहचान

जितेंद्र भाटिया

आप जो खुलकर हंसा करते थे, आजकल उदास क्यों रहते हैं?... और आप जो निडर होते थे, आजकल डरे-डरे क्यों रहते हैं? —वर्तमान परिवेश में व्यक्ति के साहसहीन होते जाने के कारणों को रेखांकित करती, आठवें दशक के चर्चित कथाकार की ताजा कहानी—

बहुत पहले मैं एक आदमी को जानता था. वह हमारी ही बिल्डिंग में रहता था और कुल मिलाकर खासे मजे की जिंदगी बसर करता था. बिल्डिंग के लगभग हर घर में उसका आना-जाना था. सीढ़ियों से ऊपर नीचे चढ़ते-उतरते वह हर परिचित चेहरे का अभिवादन करता, हर जान-पहचानवाले के साथ हंसी-मजाक का एकाध टुकड़ा बांटता. दशहरे के अवसर पर मुहल्ले में होनेवाली उत्सव की कमेटी में उसका खास हाथ रहता था और अड़ोस-पड़ोस की औरतें उसे 'भाई-साहब, भाई साहब' कहते नहीं थकती थीं. गली-मुहल्ले के पान-बीड़ी वाले, डबलरोटी के दुकानदार और सब्जी का टोकरा सिर पर उठाकर हांक लगाते फेरीवाले—सब उसे पहचानते थे. जो लोग उसे नहीं जानते थे, वे भी उसकी बेफिक्र चाल और आंखों से झलक रहे आत्मविश्वास से बखूबी अंदाजा लगा सकते थे कि वह इसी मुहल्ले का एक जायज, सम्माननीय और शरीफ बाशिंदा है.

मेरी ही तरह वह आदमी भी एक सरकारी दफ्तर में काम करता था जहां-एक बड़े से बदरंग हाल में फाइलों से लदी आलमारियों के बीच चालीस-पचास क्लर्क नौ से पांच तक की तयशुदा ड्यूटी बजाते थे और मौका लगने पर बीड़ी-सिगरेट-चाय की तफरीह के सहारे रोजमर्रा की छोटी-बड़ी चिंताएं और सुख-दुख बांटते थे. वह आदमी भी इसी भीड़ का एक हिस्सा था. लेकिन चालीस-पचास आवाजों के उस सामूहिक शोर के बीच उसके बुलंद ठहाकों की आवाज अपनी एक खास पहचान बनाती थी और जिस दिन वह दफ्तर नहीं आता था, उस दिन उस बदरंग हाल में लोग एक-दूसरे को कुहनी मारकर कहते थे कि पता नहीं क्यों आज कुछ जम नहीं रहा है.

मेरी ही तरह उस आदमी को भी पिछले छः सालों से अपनी तरक्की का इंतजार था. महगाई भत्ते की अगली किश्त के भुगतान से लेकर बोनस अधिनियम की ताजा समस्याएं मेरी ही तरह उसे भी परेशान करती थीं तब उसकी बेटी हाई स्कूल में पढ़ रही थी और गांव में उसका बाप बीमार था. हर महीने अपने गांव कुछ न कुछ पैसे भेजने की मजबूरी के बावजूद उसका दृढ़ संकल्प था कि वह अपनी बेटी को शहर के दूसरे छोर पर स्थित मेडिकल कॉलेज में दाखिला दिलवाकर रहेगा.

उस आदमी के पत्नी भी पांचवीं जमात तक ही पढ़ी थी—मेरी पत्नी की तरह. धार्मिक विचारों की होने का कारण वह हर बुधवार की दोपहर 'सत्संग' के लिए जाती थी. वह स्वयं ईश्वर को नहीं मानता था, लेकिन फिर भी गुरुओं और संतों की वाणी में उसे दुनियादारी की समझ और गहरी पैठ दिखाई देती थी. इसीलिये अपनी पत्नी की धार्मिक आस्था की वह इज्जत करता था.

वह आदमी, जिसे मैं जानता था, अपने मुहल्ले या शहर या जिले की कोई भारी हस्ती नहीं था, न ही उसमें कोई भी ऐसा लक्षण विद्यमान था, जिसके आधार पर कहा जा सकता था कि आगे चलकर वह कोई महापुरुष या नेता या जननायक बनेगा. लेकिन फिर भी उसका एक वजूद था, जो मेरे मन में एक अनकही उम्मीद जगाता था.

पता नहीं शुरुआत कहां से हुई. लेकिन एक रात उसे खबर मिली कि गांव में उसके बूढ़े बाप को किसी ने गोली मार दी है. वह उसी रात बस में बैठकर गांव पहुंचा तो पता चला, मोटर साइकिल पर दो नौजवान आये थे जिन्होंने बंदूकों से उसके बाप सीने को छलनी कर दिया. उसके बूढ़े, अपाहिज बाप की किसी से क्या दुश्मनी हो सकती है, यह बहुत कोशिश के बाद भी उसकी समझ में नहीं आया. बाप का दाह-संस्कार करके वह गांव से वापस शहर लौटा तो उसकी आंखों के नीचे काली छाइयां उभर आयी थीं. दफ्तर वालों ने पिता के देहांत पर अफसोस जाहिर करने का बाद उसे बताया कि उसके खाते में सिर्फ दो दिन की कैजुअल लीव बाकी थी और शेष तीन दिनों की छुट्टी के पैसे उसकी तनख्वाह में से काट लिये जायेंगे.

पिता की मृत्यु के बाद से ही उसने अखबार में छपी खबरों को कुछ ज्यादा ध्यान से पढ़ना शुरू कर दिया. दफ्तर में अधिकांश साथियों से अब

● जितेंद्र भाटिया

वह बहुत कम बोलता था और उसके पुराने ठहाके तो जैसे उसकी टेबल पर पड़े फाइलों के ढेर के बीच कहीं दबकर रह गये थे. रिसेस के वक्त उदास आंखों से वह अखबारों की उन सुर्खियों को देखता रहता जिनमें उसके निर्दोष बाप की हत्या की पुनरावृत्ति जैसे एक नियमित शक्ल लेती जा रही थी. उसके अपने शहर में भी अब धीरे-धीरे आतंक फैलने लगा था और लोगों ने देर रात गये घर से निकलना बंद कर दिया था. दफ्तर के कई पुराने दोस्तों को अब वह शक और अविश्वास की निगाहों से देखता और इसी तरह एक दिन उसने पाया था कि उसके कुछ साथी भी उसे संदेह भरी दृष्टि से देखने लगे हैं.

जिस शाम उसके मुहल्ले में पहली बार बम फटा, उस दिन वह अपनी पत्नी के साथ परदों का कपड़ा लेने के लिए बाजार जानेवाला था. बम के स्फोट से राहचलता एक आदमी जख्मी हुआ और अगली गली में काम करनेवाली एक बर्तन मांजनेवाली बाई की बांह टूट गयी. अब वह औरत बर्तन मांजकर अपनी रोटी कैसे कमायेगी. उसने सोचा और उसका दिल दहशत से भर गया. वह अपने मुहल्ले में घर-घर जाकर पता लगाने की कोशिश करता रहा कि वे कौन से हैवान थे जिन्होंने इस तरह मासूम लोगों को चोट पहुंचायी थी. लेकिन कोई उससे बात करने के लिए तैयार नहीं हुआ. वे सब बुरी तरह डरे हुए थे. बल्कि उसे लगा कि वे उसकी ओर भी शक की निगाहों से देख रहे थे.

उसी शाम उसने अपनी पत्नी के साथ मिलकर तय किया कि घर की कमजोर खिड़कियों के लिए नये पर्दे खरीदने का खयाल फिजूल था. उन पैसों से उसने बाहर की खिड़की पर एक मजबूत जंगला लगवाया और घर के मुख्य दरवाजे पर भीतर से बंद होनेवाली एक अतिरिक्त सिटकनी फिट करवा ली. घर को सजाने-संवारने से ज्यादा जरूरी और अहम मसला बन गया था, अपनी जान की हिफाजत करना.

उसके बाद कई घटना एक के बाद एक अपने आपको दोहराती चली गयीं. शहर में कई जगह बम विस्फोट हुए. छोटे-बड़े लोगों की जानें गयीं. दंगे हुए.

एक शाम स्कूल से लौटकर उसकी बेटी ने बताया कि स्कूल के बाहर कुछ लोग उसे छेड़ते हैं. अगली सुबह से ही वह स्वयं अपनी बेटी को छोड़ने स्कूल जाने लगा. पत्नी का 'सत्संग' पर जाना उसने पहले ही बंद करवा दिया था. अब उसने बेटी को शहर के दूसरे छोर पर मेडिकल कॉलेज में दाखिल करवाने का खयाल भी छोड़ दिया. दफ्तर से घर तक की दूरी वह काफी सतर्कता से पूरी करता. हर राह-चलता आदमी उसे खतरनाक लगने लगा था. मुहल्लेवाले अब उससे कम ही बोलते थे. और जब बोलते भी तो लगता कि एक अनाम भय उनके बीच झूल रहा है.

बहुत पहले मैं एक बेफिक्र, अलमस्त और बहादुर आदमी को जानता था. वह आदमी पता नहीं कहां चला गया है. आखिरी बार मैंने उसे पुलिस स्टेशन के बाहर देखा था, जहां वह डरे-डरे स्वर में पता लगाने की कोशिश कर रहा था कि आत्मरक्षा के लिए बंदूक रखने का लाइसेंस कहां से मिल सकता है.

पिछली सुबह दाढ़ी बनाने से पहले मैंने आईने में अपना चेहरा देखा तो मुझे बरबस उस अलमस्त आदमी की याद हो आयी जिसे बहुत पहले मैं जानता था. अब उस आदमी की जगह सिर्फ एक दब्बू, बुजदिल और डरपोक खाका रह गया है, जो वक्त से पहले ही बूढ़ा हो चला है.

क्या इस खाके में फिर से जान नहीं डाली जा सकती? क्या सचमुच कोई सूरत नहीं कि उस हंसमुख, हिम्मती और अलमस्त आदमी के साथ फिर से मेरी पहचान कायम हो जाये? □

● ९९जी, 'एफ', ब्लॉक, न्यू अलीपुर, कलकत्ता-७०००५३.

भाषा की शक्ति

□ विजय मोहन सिंह

जब जेनुइन तथा नानजेनुइन के बीच ऐसा ऐतिहासिक कंफ्यूजन पैदा होता है तो इससे न केवल विधा—विशेष की—बल्कि रचना या भाषा मात्र की शक्ति समाप्त होती प्रतीत होने लगती है. ऐसे क्षणों में भाषा की शक्ति को पुनर्जीवित करना किसी दृष्टि-संपन्न आलोचक या आलोचना के बूते की बात नहीं होती. उस वक्त ऐसे रचनाकार की आवश्यकता होती है जो अडिग रहकर इस गर्दोगुबार से बेखबर अपनी-विधा की सीढ़ी-दर-सीढ़ी तय करता हुआ इस रचनात्मक असामर्थ्य के समानांतर रचना और भाषा की शक्ति को पुनः स्थापित करता है. □

('आज की कहानी' से)

परखवारे की पुस्तकें

'तुम्हारी रोशनी में'

एक सहानुभूतिपूर्ण परकाया प्रवेश

मुझे तो 'तुम्हारी रोशनी में' किताब ने पकड़ लिया था. खरी गहरी रचना है. कोई कुछ कहे, मैं सहमत हूं कि प्रेम पवित्र करता है, वह उठाता है आदमी को. बाहर जितना कर्म दिखता है, मूल्य उसका भीतर के प्रेम के हिसाब से ही लगना चाहिए. नहीं तो कर्म कोरी चंचलता ही नहीं है? आप उतर रहे हैं-घटना की यथार्थता से उसके आशय के संधान में और मेरी दृष्टि से यह बड़ा शुभ है. मेरी बधाई लें.

जैनेंद्र कुमार, दिल्ली

सुवर्णा का चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी रोचक है और सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से भी. आज की अमर्यादित नव-स्वातंत्र्य चेतना तथा सांस्कृतिक गुलामी के दोहरे तंग और कसे हुए जाल में जकड़ी उच्च-वर्गीय शिक्षिता भारतीय नारी का तुमने अच्छा चित्रण किया है. एक जगह तो वह अपनी नारी प्रकृति के अनुसार एक ही पुरुष के प्रति समर्पित होना चाहती है, किंतु उसकी एक पुरुष वाली चेतना में ही कितने पुरुष समाये हैं.... कि वह यह निर्णय नहीं कर पाती कि उसे किस पुरुष से क्या चाहिए. अपने मन की सुनहली चाहतों में वह इतनी बिखरी हुई है कि अपनी स्वतंत्रता को न तो वह ठीक तरह से समझ पाती है और न ही उसे मर्यादित कर सकती है... वह पति से दबती है और दूसरी ओर स्वातंत्र्य-चेतनावश विद्रोह भी करती है... फिर भी करुण और विवश है. तुम्हारी चरित्र-चित्रण की शैली, पे काव्य की भाषा भी अच्छे रंग भर देती है. तुम्हें बधाई देता हूं.

अमृतलाल नागर, लखनऊ

आपने एक शाश्वत समस्या को नये रूप में प्रस्तुत किया है. आपने प्रकृति का जो प्रतीकों के रूप में इस्तेमाल किया है वह बहुत अच्छा लगा. कहीं-कहीं सायासता आयी है, पर बहुत ही कम. कुल मिलाकर एक कुरेदना पैदा कर दी उपन्यास ने. बड़ी कुशलता से आपने सुवर्णा की वेदना को सहेजा है. खुले आकाश में उड़ने वाली वह जानती ही नहीं उसका गंतव्य कहां है. इसीलिए भटकती है. कुछ बंधन उसे खींचते हैं. वह सच्ची है उनके प्रति पति के प्रति समर्पिता है पर दासी बनकर नहीं, सहचरी बनकर. पुरुष प्रधान समाज में जो छूट पुरुष ने अपने लिए ले रखी है, सुवर्णा अपने लिए भी वही चाहती है. वह उनसे सहज भाव से मुक्त होकर मिलना चाहती है. जिन्हें वह पसंद करती है वहां भी सजग है वह, सीमा बांधती है लेकिन प्रश्न है ऐसी स्थितियों में सीमा टिकती है क्या? अनजाने अनचाहे सब कुछ टूट-फूट जाता है... तब

यहीं सुवर्णा भी टूट गयी.

आपने भटकाव का सुंदर और हृदयग्राही चित्रण किया है पर सुवर्णा की मंजिल तो अनंत भी नहीं हो सकती. कहां है वह मंजिल... यही तो समस्या है. इसका समाधान कहां है. आपके उपन्यास ने निदान तो नहीं सुझाया पर समस्या को स्पष्ट और सघन रूप में प्रस्तुत कर दिया है. मुझे लगता है सुवर्णा को अभी सही रास्ता नहीं दिखा है पर वह हारी नहीं है. यह शुभ है. कुरेदना है उसके अंतर में. यही उसकी शक्ति बनेगी.

मैं संतुष्ट हुआ पर तृप्त नहीं हुआ. होना भी नहीं चाहिए था... क्योंकि आप शायद आश्वस्त करना भी नहीं चाहते. अतृप्ति हो तो उत्तर को कुरेदती है.

विष्णु प्रभाकर, दिल्ली

> **अक्सर किसी पुस्तक के बारे में व्यक्त की हुई तात्कालिक प्रतिक्रिया वह कुछ झलका जाती है जो बाद में लिखी तर्कसम्मत समीक्षा नहीं कर पाती. इसी प्रयोजन से हम गोविंद मिश्र के सद्यः प्रकाशित उपन्यास पर उन्हें पत्र रूप में मिली कुछ महत्वपूर्ण साहित्यकारों की प्रतिक्रियाएं दे रहे हैं जो उपन्यास के विभिन्न पहलुओं, महत्वपूर्ण बिंदुओं और संभावनाओं पर प्रकाश डालती हैं. साथ में है पत्र के रूप में ही डा. चंद्रकांत बांदिवडेकर की विस्तृत आलोचना.**

'तुम्हारी रोशनी में' पुस्तक पढ़ी और बड़े चाव से पढ़ी. सुवर्णा के रूप में आपने आधुनिका नारी के मन की करवटें बहुत बारीकी से पकड़ी हैं. आनंद आया. कथासूत्र अच्छा बांधे रहता है. अनंत, रमेश और सुवर्णा के मन के सूक्ष्म तंतुओं को टटोलने और उकेरने में आपकी संवेदन-संपन्न भाषा का भी विशेष योग है. बधाई.

अमृतराय, इलाहाबाद

हर लेखक के पूर्व कृतित्व के कारण एक पूर्वाग्रह बन जाता है. इसी से 'लाल पीली जमीन' और 'हुजूर दरबार' के लेखक का य नया उपन्यास एकदम उतना उत्साहित नहीं करता. फिर भी मानव स्वभाव को उसके तत्व में पकड़ने की आपकी पैनी प्रवृत्ति हर जगह उसमें दिखती है और उपन्यास में आडंबरयुक्त वह सहज पठनीयता तो है ही जिसकी आपका पाठक आपसे हमेशा अपेक्षा करता है.

श्रीलाल शुक्ल, लखनऊ

अपने दौर की संवेदना को, अपने युग के चरित्र को यह उपन्यास बहुत स्पष्ट और कुशल शिल्पी की तरह हमारे सामने रखता है. एक अच्छे उपन्यास की जो छवि हमारे मन में होती है, जो उसे क्लासिकी चरित्र भी प्रदान करती है, वह इस उपन्यास में दिखाई दे रही है.

लेखक ने सभी चरित्रों के भीतर जाकर उनके तमाम अंतर्विरोधों, स्पष्टीकरणों और पूर्वाग्रहों के साथ उनका पक्ष प्रस्तुत किया है और लगता है, रचना स्वयं में एक संपूर्ण विचार प्रक्रिया को रच रही है. कोई व्यक्ति या विचारधारा इसमें अपनी पहचान 'डिक्टेट' नहीं कर रही.

एक तरह से संपूर्ण सर्जनात्मक दृष्टि को रचने का कौशल इस उपन्यास में संभवतः आजादी के बाद के हिंदी उपन्यासों में पहली बार आया है. कथा और विचार दोनों को एक साथ रचने का— और वह भी कथा साहित्य जैसी ललित विधा में रचने का प्रयास न केवल रचना के प्रभाव की दृष्टि से, समझने की दृष्टि से भी हमें सर्वथा नया आयाम प्रदान करता है. मुझे लगता है कि अपने दौर की संवेदना के अनुरूप जो काम यशपाल ने 'दिव्या' के जरिये, शरत ने 'शेष प्रश्न' के, जैनेंद्र ने 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' के तथा भगवती बाबू ने अपने कुछ आरंभिक उपन्यासों के माध्यम से किया; बीसवीं सदी से उत्तरार्ध की संवेदना को 'तुम्हारी रोशनी में' उपन्यास बड़े ही यथार्थ और रचनात्मक ढंग से उजागर करता है.

बटरोही, नैनीताल

उपन्यास तुम्हारी जमीन से हटकर है. सुवर्णा का चरित्र इतने अधिक विकल्पों के कारण हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण चरित्र होते-होते रह गया है. इसका कारण केवल एक ही नजर आता है. वह है इस पात्र के साथ लेखकीय संवेदना का भावात्मक रूप से जुड़ जाना.

तुम अपनी भाषा से भी अच्छी दिशा में हटे हो, प्रतीकों और संवेदना की गहराई की दृष्टि से गहरे भी उतरे हो, परंतु भावनात्मक जुड़ाव पात्र को ऊंचाइयों तक पहुंचते-पहुंचते उसी प्रकार रोक लेता है, जैसे किसी योद्धा को उसके स्वजनों का प्यार दिग्विजय से रोक लेता हो.

फिर भी इतनी तल्लीनता और आत्मीयता के साथ लिखे गये इस उपन्यास के लिए मेरी बधाई स्वीकार करो. सुवर्णा की रूपज मांसलता और 'सेन्सुअसनैस' की बहुलता मुझे इस चरित्र की कभी न भूलने वाली देन लगी.

गिरिराज किशोर, कानपुर

प्रिय गोविंद भाई,
सस्नेह नमस्कार

आपकी पुस्तक 'तुम्हारी रोशनी में' एक बैठक में पढ़ी जा सकती है क्योंकि एक संस्कारित व्यक्तित्व को बांध रखने की क्षमता इसमें प्रचुर मात्रा में है और अच्छी रचना की सफलता का यह भी एक निकष है.

आपकी पूर्ववर्ती रचनाओं से यह भिन्न लगी. यह भिन्नता महत्वपूर्ण भी है. 'लाल पीली जमीन' और 'हुजूर दरबार' में बाहय यथार्थ का सघन जाल था और सामूहिक मानसिकता का गहन अंकन भी था. वहां आपकी दृष्टि व्यक्ति के मानस पर भी पड़ती थी परंतु, उस गिद्ध की तरह जो आकाश में परिभ्रमण करता हुआ बीच ही में नीचे झपट्टे से आकर अपने लक्ष्य को चोंच में अचूक पकड़ता है. उस समय भी एकाध प्रसंग में या दस पांच पंक्तियों में मनुष्य के मन की पर्तें को आप उघाड़ते थे. 'तुम्हारी रोशनी में' आपने एक ही व्यक्ति को केंद्र में रखा है और बाहर को उतना ही आने दिया है जितने से उस व्यक्ति के भीतर को अधिक वेधक रूप में उद्घाटित किया जा सके. यह अपनी ही परिधियों को तोड़ने का प्रयोगधर्मी प्रवृत्ति मुझे बहुत अच्छी लगी. एक दूसरे प्रकार से भी आपने अपने को पहली रचनाओं से मुक्त किया है. पहले आपकी दृष्टि कुछ पीछे मुड़कर चीजों को देखती थी, इसमें चीजों का बराबर उनके वर्तमान क्षण में आप सामना कर रहे हैं.

आपने एक बहुत ही महत्वपूर्ण जीवनानुभव को स्पर्श किया है. हिंदी में अब तक जो भी कुछ नारी को लेकर लिखा गया उसमें अधिकतर कृत्रिम द्वंद्व से उनको देखा गया—परंपरा और आधुनिकता, पूर्वी और पश्चिमी घर और बाहर, पतिव्रता या वेश्या इत्यादि, इत्यादि. प्रायः बहुत बड़ी सीमा तक यौन संबंधी पवित्रता या दैहिक शुद्धता का टैबू लेखक को नारी के संबंध में मुक्त रूप से विचार करते नहीं देख गया है. (यह टैबू कहीं क्षीण रूप में में आप में भी है. उदाहरणार्थ- आप यह तो स्वीकार करवाते हैं—थोड़ी बहुत देह आ ही जाती है लेकिन उस 'थोड़ी-बहुत' को आप गूढ़ ही रहने देते हैं या उस स्थिति तक जाकर नहीं सोचते कि संबंधों में परस्पर उत्कट भाव की परिणति अगर संपूर्ण शरीर के माध्यम से व्यक्त हो जाये तो क्या? यह टैबू जैनेंद्र जी में अत्यधिक है—आपमें क्षीण रूप में है. हां, यह मानना पड़ेगा, आप खूब आगे चले गये हैं. जैनेंद्र जी ने 'त्यागपत्र' में जो झकझोड़ने वाली समस्याएं उठायी थीं, वे भी आगे चलकर कुछ-इस बिंदु को लेकर-बुझ-सी गयीं.) या तो लेखक देह की समस्या को एकबारगी झुठला देते हैं, अमहत्वपूर्ण मानते हैं या बचकर चलते हैं. आपने बहुत बड़ी सीमा तक आज की नारी के मन की असली समस्या को आधुनिक परिवेश में रू-ब-रू देखने का प्रयास किया है. सुवर्णा के मानस को उसकी अच्छाइयों, बुराइयों समेत विस्तार और गहराई, दोनों दृष्टियों से आपने प्रस्तुत किया है. रमेश के रूप में आपने पुरुष वर्ग को अपनी कपटी उदारता का पर्दा फाड़कर भीतर तक झांककर देखने को और अपनी सामंती मानसिकता के विद्रूप से मुखातिब होने को बाध्य किया है. (यहां मुझे आपके एक कलात्मक स्खलन की ओर संकेत करना है. जिस तरह जैनेंद्र के पुरुष पिस्तौल हाथ में आने पर बचकानी हरकतें करने लगते हैं, वैसे आपका रमेश भी— क्या इस सीमा तक ले जाना जरूरी था? (अनंत के रूप में उसका एक दूसरा रूप—आदर्श नैतिक और मानवीय मूल्यों के बीच संतुलन करनेवाला—आपने चित्रित किया है.) गोविंद जी, एक प्रश्न यह पूछना चाहता हूं—अनंत सुवर्णा को आधार देने के लिए प्रतीक्षारत रहे, क्या यह सुवर्णा की (और आपकी भी) ज्यादती नहीं है? फिर वही सवाल उठता है—क्या हर्ज है अगर सुवर्णा और अनंत मित्र की तरह रहें और उसमें शरीर भी रहे, थोड़ा-बहुत नहीं, बहुत कुछ—यहां पर भी आप समस्या को टाल गये हैं, वैसे प्रेमचंद से अब तक क्या हम वहीं रहेंगे? क्या जरूरी है कि स्त्री-पुरुष मित्रता शरीर को बाहर रखकर ही सार्थक हो? अगर आप अनंत-सुवर्णा संबंध को समग्रता में चित्रित करते तो उपन्यास को एक और डायमेंशन मिलता. क्या अब यह स्थिति नहीं आयी है कि व्यक्तित्व के प्रति जागरूक नर-नारी विकास को अवरुद्ध करने वाले वैवाहिक बंधन को न स्वीकार कर भी पवित्र मानवीय स्नेहभाव से साथ रह सकते हैं—अगर ऐसे रहें तो कम से कम उसको समाज में स्वीकृति भी मिलनी चाहिए. आपके उपन्यास को पढ़ते समय जो कुछ अतृप्ति-सी अनुभव होती है, वह इस तरह की अपूर्णता के कारण है.

आपने जिस सुवर्णा को केंद्र में रखा है, वह अद्वितीय नहीं है (अज्ञेय की 'रेखा' या 'गौरा' या 'शशि' की तरह—मैं यहां 'अद्वितीय' शब्द निंदात्मक ध्वनि में नहीं प्रयोग में ला रहा हूं—'अनकामन' के अर्थ में कहिए कि उज्ज्वल रूप में ही)—अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूक, अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं के प्रति समझदार, समंसज. परंतु 'सुवर्णा' मूल्यात्मक नैतिक प्रश्न नहीं उभारती—यह शायद आपका उद्देश्य भी नहीं है. यह केवल अपनी छोटी-सी जिंदगी को भरे-पूरे रूप में जीना चाहती है. इस जीने में पुरुषों के साथ दोस्ती उसकी छोटी-छोटी प्यास को तृप्त करती है. कुछ 'थ्रिल' इस दोस्ती में उसको मिलती है. इस 'थ्रिल' तक ही वह दोस्ती को सीमित रखती है, क्योंकि वह जानती है कि किस मित्र को किस सीमा तक बढ़ने देना है, उसके बाद वह निर्मम होकर उसे काट फेंक सकती है. उसमें सुरक्षा और स्थिरता (जो वैवाहिक जीवन में और नौकरी में प्राप्त है) के प्रति लगाव है. हो सकता है उसकी यह निर्ममता बहुत भीतरी सेक्स के प्रति परंपरागत भय से उपजी हो, गहरे पातिव्रत के संस्कार से या आत्मसम्मान और सुरक्षा की चिंता से. हो सकता है सेक्स उसकी जरूरत है ही नहीं. उसकी जरूरत है पुरुषों के साथ समान स्तर पर मैत्री या उसमें प्राप्त होने वाली अपने व्यक्तित्व के प्रभाव की गौरवगाथा. मुझे आपकी इस सूझ की दाद देनी है—स्त्री-पुरुष संबंधों में, खासकर स्त्री के लिए सेक्स व्यापार महत्वपूर्ण नहीं होता और इधर स्त्रियों के जो बयान पढ़ने में आये हैं वे यही सिद्ध करते हैं कि 'सेक्स' उनके लिए बहुत बड़ी चीज नहीं है जितना प्यार, थोड़ा बहुत देह को बीच में रखकर किया हुआ संवेदनात्मक संप्रेषण और मानवीय समान स्तर पर एक दूसरे के प्रति आदर का भाव—एक अवलंब, एक दूसरे के प्रति समझदारी. अगर दो पुरुषों के बीच या दो नारियों के बीच यह स्वीकार्य है तो स्त्री और पुरुष के बीच में क्यों नहीं? आपकी सुवर्णा प्रत्यक्ष रूप में तो ये सवाल नहीं खड़े करती—वह कुछ पुरुषों के सान्निध्य में प्राप्त सराहना के थ्रिल को ही अधिक चाहती है, उससे अधिक गहरी पैठ उसमें नहीं है. मेरी कुछ अतृप्ति का यह भी कारण है.

आपकी पुस्तक से ही उदाहरण देता हूं. सुवर्णा और अनंत में अंतर है. अनंत भीतरी बात को पकड़ लेता है, सुवर्णा बस यही कहती है—'**मुझे ताकत मिलती है, तुमसे. अक्सर लगता है तुम मेरे ही भावों को शब्द दे रहे हो.**' सुवर्णा अपने भावों को शब्द नहीं दे पाती—अनंत डायरी में लिखता है—द्रष्टा उच्चवर्ग और **उसका नकलची उच्च-मध्य वर्ग भी प्रेम महसूस करने की क्षमता खोता चला जा रहा है. प्रेम नहीं करता क्योंकि उसमें यातना है, तो फिर किसी के लिए कुछ नहीं करना—क्योंकि उसमें तकलीफ है.**' बंधु, तुम्हारी यह मानसिक व्यथा अनंत को झकझोरती है, सुवर्णा को नहीं. सुवर्णा एक अर्थ

अंतर्द्वंद्वों के द्वार पर खड़े सुदामा

अलका पांडे

अभिज्ञान' सुदामा और कृष्ण की चिरपरिचित कथा के आधार पर लिखा गया उपन्यास है, परंतु सुदामा और कृष्ण की कहानी के माध्यम से उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक स्थितियों का जो चित्र उपन्यासकार ने खींचा है, वह वर्तमान स्थितियों से एकाकार हो गया है. उपन्यास कहीं भी 'आज' से अलग नहीं है.

उपन्यास का सबसे बड़ा गुण है रोचकता. कृष्ण से मिलने जाने से पहले सुदामा का अंतर्द्वंद्व, उनकी पत्नी और बाबा का कृष्ण से उन्हें मिलने के लिए बार-बार प्रेरित करना, सब कुछ बहुत स्वाभाविक बना रहा है. शासन तंत्र के प्रति लोगों का भय, धन और पद को ही सामाजिक प्रतिष्ठा का मानदंड माना जाना भी इसी प्रवाह में है. कहीं कोई उतार-चढ़ाव असहज नहीं है.

कृष्ण का कर्म सिद्धांत इस उपन्यास में भी ज्यों का त्यों है. कृष्ण के कर्म उनके आस-पास विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं. थोथे सिद्धांतों के वे घोर विरोधी हैं. सुदामा से भी वे सिद्धांतों के साथ कर्म करने की बात करते हैं. सुदामा सिर्फ चिंतन को महत्व देते हैं, इसलिए वे स्वयं के साथ भी कभी न्याय नहीं कर पाये. कृष्ण, सिद्धांतों और व्यवहार का तादात्म्य करके चले, इसलिए वे कभी भी दिग्भ्रमित नहीं हुए. कर्म निष्काम होना चाहिए; स्वार्थपूर्ति का साधन नहीं. व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित कर्म कभी निष्काम नहीं हो सकता. सामूहिक हित को ध्यान में रखकर किया गया कर्म ही निष्काम है. इसी तरह उपन्यास में अंधभक्ति और सकाम-भक्ति को भी अस्वीकारा गया है. प्रेम-मिश्रित निष्काम-भक्ति ही वास्तविक भक्ति है. आस्तिकता, नास्तिकता भी कहने भर की बातें हैं. किसी एक की नास्तिकता दूसरे की आस्तिकता बन सकती है, और कभी-कभी किसी की आस्तिकता दूसरे के लिए घोर नास्तिकता बन सकती है.

चरित्र की दृष्टि से सुदामा का चरित्र उपन्यास में प्रमुख है. वे ज्ञानी हैं पर संशयग्रस्त हैं. विवेकशील तो हैं, लेकिन साधारण आवेगों से विचलित होने वाले हैं. उनका मन सब कुछ समझते-बूझते भी दुविधाओं से ग्रस्त रहता है. अंतर्द्वंद्व से घिरे रहनेवाले सुदामा शीघ्र निर्णय नहीं ले पाते. वे स्वाभिमानी भी हैं और पुरुषोचित पौरुष भी उनके अंदर है. ज्ञानवान होते हुए भी शासन व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था के प्रति उनका आक्रोश हमेशा रहता है. विशेष कर शासन के प्रति और चाटुकारिता के प्रति उनका उपेक्षित दृष्टिकोण उन्हें वास्तविक बुद्धिजीवी बना देता है.

यह भान है कि वे उच्चकुल के हैं, इसलिए जातिगत स्वाभिमान भी उनके कार्यक्षेत्र में आड़े आता है. कृष्ण से मिलने के बाद उन्हें चिंतन के साथ कर्म, निष्काम कर्म करने की प्रेरणा मिलती है. वे जानते तो थे, पर कर्म और चिंतन के सिद्धांत को हृदयंगम नहीं कर पाये थे. नरेंद्र कोहली ने सुदामा का चरित्र ज्ञानी होते हुए भी एक साधारण मनुष्य का रखा है. ऐसे व्यक्ति अब-भी हमारे समाज में गिने-चुने मिल ही जायेंगे, जो अपने स्वाभिमान के कारण अपनी प्रतिभा का समाज में मूल्यांकन ही नहीं करवा पा रहे हैं. सुदामा को तो अंततोगत्वा कृष्ण मिल ही गये थे पर इस हर एक के भाग्य में कृष्ण कहां.

कृष्ण भगवान नहीं लेकिन असाधारण तो अवश्य हैं. उनका कर्म सिद्धांत हमें अलौकिक न लगकर, हमारे आस-पास का ही लगता है. कृष्ण का चरित्र-अन्यायों का प्रतिकार करने वाला, सामाजिक मर्यादाओं को तोड़नेवाला, प्रेम पर अखंड विश्वास रखनेवाला, मौलिक चिंतन द्वारा मार्ग खोजनेवाला है. स्त्री स्वातंत्र्य के पक्षपाती कृष्ण, झूठी नैतिकता की परवाह न करनेवाले कृष्ण, सारे संसार के सुख-दुख से शामिल होने वाले कृष्ण—अपने मोहक व्यक्तित्व को लिये हुए सबसे स्पष्ट सहज और साफ हैं. कृष्ण के चरित्र का निर्वाह भी उपन्यास में स्वाभाविक गति से हुआ है.

सुदामा की पत्नी सुशीला का चरित्र भी भारतीय नारी का सही प्रतिनिधित्व करता है. सुशीला, कर्मठ, तर्कशील, बुद्धिमती, जिज्ञासु और रूढ़ियों की विरोधी है वह सुदामा से अधिक व्यावहारिक है. पति की मानसिकता को समझनेवाली सुशीला कर्तव्य-अकर्तव्य् से भली-भांति परिचित है. समय आने पर वह खुद भी काम करने से नहीं हिचकती है. पति के स्वाभिमान को वह कभी-भी ठेस नहीं लगने देती.

उपन्यास में द्रोणाचार्य का विश्लेषण अच्छा है. गुरुकुलों की स्थिति कैसी होती है, स्पष्ट हो जाता है. उपन्यास में छोटा-सा राधा-प्रसंग रखा गया है, और उसी के द्वारा सकाम भक्ति और निष्काम भावात्मक भक्ति को समझाने की कोशिश की गयी है, किंतु यह प्रसंग सहज नहीं बन पाया. ऐसा लगता है कि चूंकि 'कृष्ण' के उस रूप और राधा गोपिकाओं, वृंदावन को भी सम्मिलित करना था, इसलिए सायास इस प्रसंग को लिया गया है, वरना यह प्रसंग तो अपनी गरिमा अलग ही रखता है. कृष्ण और सुदामा की बातचीत भी बहुत लंबी खिंच गयी है. उपन्यास का पूर्वार्द्ध तो बहुत ही अच्छी गति, सटी का घटनाओं और सहज दर्शन को साथ लेकर चला है, परंतु उसके बाद किंचित शिथिलता आ गयी है. फिर भी इसमें कोई दो मत नहीं, कि उपन्यास पठनीय और अपनी तरह की महत्वपूर्ण कृति है. □

अभिज्ञान : नरेंद्र कोहली ; प्रकाशक : राजपाल एंड संस, कश्मीरीगेट, दिल्ली-6

में आत्मकेंद्रित व्यक्तित्व है.

लेकिन आपने सुवर्णा की तनावों में उलझी और बिखरी मानसिकता की अंतर्व्यथा को बड़ी कुशलता के साथ उभारा है. पुस्तक के अंत में लिखे आपके शब्द— 'घने दरख्तों से लदी गहरी घाटी—खामोश-वीरान. एक आवाज ऊपर नीचे दौड़ रही है चक्करों में. कोई बेचैन चीख—एक पक्षी का अन्तर्नाद—दरख्तों से टकराता, गिरता, उठता—नीचे घाटी के तल तक जाता, फिर आसमान की ओर उठता हुआ—' सचमुच में सारे औपन्यासिक प्रभाव को प्रतीकित करते हैं. संबंधों के जंगलों में जिजीविषा से उठती परंतु टकराकर नीचे गिरती फिर उठती सुवर्णा की फड़फड़ाहट मन को बेधती है अवश्य.

गोविंद भाई, आपकी भाषा में ताकत है, मन की सूक्ष्म भाव-वीचियों को मूर्त करने की क्षमता है. एक गर्माहट से आप अपनी बात को भीतर तक पहुंचा देते हैं—सहज रूप में, क्योंकि एक सहानुभूतिपूर्ण परकाया प्रवेश की सिद्धि से आप सुवर्णा की मनोव्यथा को भोग चुके हैं. काश, उसके मातृत्व के दबे हुए पक्ष को भी आप जरा उभार देते तो उसकी वेदना का तंतुजाल अधिक सशक्त बनता.

आपकी सुवर्णा बंबई/दिल्ली जैसे महानगरों में रहने वाली कामकाजी महिला है. उसकी भागदौड़ में इतनी फुर्सत भी कहां कि वह अपने हीमन को चीरती, छीलती चली जाये? हम सब एक सतह पर जीने को विवश हैं—बीच-बीच में आपने इसका संकेत दिया भी है. आपने जिस कोण से सुवर्णा को देखा है उसके कारण स्थितियों को न आपने कहीं भड़कीली होने दिया है (हां, वह पिस्तौल छोड़कर) न अनावश्यक सोच का भार उस पर डाला है. चिड़िया की तरह फुदकना चाहती है सुवर्णा, पैर में विवाह की जंजीर (और भी अनेक जंजीरें हैं) है जो दर्द देती है—इस फुदकने में, चहचहाहट में और पैर की जंजीर के कारण इसकी शिराओं में जो उत्फुल्लता है और दर्द है, उससे मैं प्रभावित हुआ. यह भी कहूं कि इसने मुझे अंतर्मुखी भी बनाया.

इस रचना की नयी दिशा के लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूं और चाहता हूं कि अगली रचना में आपका प्रयोगधर्मी मन एक और रास्ता चुन ले.

चंद्रकांत बांदिवडेकर

ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह

● श्री तकषि को प्रशस्ति-पत्र भेंट करते हुए श्री आक्टोवियो पाॅज
(चित्र परिचय : बायें से दायें—श्री अक्टेवियो पाॅज श्री अशोक जैन और श्री तकषि शिवशंकर पिल्लै.)

१४ नवंबर, ८५ की शाम नयी दिल्ली स्थित एशियाड सेंटर के सभागार में ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह अपने परंपरागत ढंग से संपन्न हुआ. इस समारोह में मलयालम के मूर्धन्य साहित्यकार ७३ वर्षीय श्री तकषि शिवशंकर पिल्लै को उनके उल्लेखनीय साहित्यिक योगदान के लिए सम्मानित किया गया. मलयालम भाषा को ज्ञानपीठ का पहला पुरस्कार पाने का गौरव भी प्राप्त है. तकषि मलयालम के तीसरे कथाकार हैं जिन्हें यह गौरव प्राप्त हुआ. इनसे पूर्व श्री गो. शंकर कुरूप को उनकी कृति 'ओडक्कुषल' के लिए पहले और श्री ह. कु. पोटेक्काट को उनकी कृति 'ओरु देशत्तिंटे कथा' के लिए सोलहवें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है. पिछले तीन वर्षों से ज्ञानपीठ ने पुरस्कार के लिए कृति के स्थान पर कृतिकार का चयन प्रारंभ कर दिया है, इसलिए अब कृति विशेष को नहीं बल्कि किसी भी रचनाकार को उनके समग्र लेखन के संदर्भ में पुरस्कृत किया जाता है.

इस समारोह के मुख्य अतिथि थे मेक्सिको के अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कवि और लेखक श्री आक्टेवियो पाॅज.

यह दूसरा अवसर था जब किसी विदेशी द्वारा पुरस्कृत रचनाकार को पुरस्कार पाने का गौरव प्राप्त हुआ. इससे पूर्व १९८२ का पुरस्कार श्रीमती महादेवी वर्मा को ब्रिटेन की प्रधान मंत्री श्रीमती मार्गरेट थैचर ने समर्पित किया था. किसी लेखक के हाथों पुरस्कार दिये जाने का भी यह दूसरा अवसर था. इसके पूर्व १९७४ का पुरस्कार श्री वि. स. खांडेकर को श्रीमती महादेवी वर्मा ने समर्पित किया था.

कार्यक्रम की शुरुआत में श्रीमती भारती शिवानी ने केरल की मोहिनी अट्टम शैली में नृत्य-कर वाग्देवी की वंदना की. मंच पर ज्ञानपीठ पुरस्कार के संस्थापक स्वर्गीय साहू शांति प्रसाद जैन और स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन की तस्वीरें लगी थीं.

वंदना के बाद ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने तकषि शिवशंकर पिल्लै को माल्यार्पण कर सम्मानित किया. श्रीमती इंदु जैन ने श्रीमती पिल्लै को फूलों का गुच्छा भेंट कर सम्मानित किया. प्रवर परिषद के अध्यक्ष और केंद्रीय मंत्री श्री प. व. नरसिंहराव ने श्री आक्टेवियो पाॅज को माल्यार्पण कर उनका स्वागत किया. इसके बाद तकषि के सम्मान में श्री विशन टंडन ने प्रशस्ति पाठ किया.

तब शंखनाद के बीच श्री आक्टेवियो पाॅज ने श्री तकषि के माथे पर तिलक लगाया, उन्हें माला पहनायी, प्रशस्तिपत्र भेंट किया, वाग्देवी की प्रतिमा सौंपी, पुरस्कार की डेढ़ लाख रुपये की राशि का चैक भेंट किया और मंगल प्रतीक नारियल समर्पित किया. श्री पाॅज ने ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित तकषि की २१ चुनिंदा कहानियों के संकलन का विमोचन भी किया. श्री तकषि की ८०० कहानियों में से चुनकर तैयार किया गया यह उनका हिंदी में प्रकाशित होने वाला पहला संग्रह है. सारे सम्मान श्री तकषि ने खुद स्वीकार किये पर पुरस्कार की रकम का चैक स्वीकारते ही अपनी पत्नी के हाथों पर रख दिया.

ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह

● श्री तकषि को प्रशस्ति-पत्र भेंट करते हुए श्री आक्टेवियो पॉज
(चित्र परिचय : बायें से दायें—श्री अक्टेवियो पॉज श्री अशोक जैन और श्री तकषि शिवशंकर पिल्लै.)

१४ नवंबर, ८५ की शाम नयी दिल्ली स्थित एशियाड सेंटर के सभागार में ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह अपने परंपरागत ढंग से संपन्न हुआ. इस समारोह में मलयालम के मूर्धन्य साहित्यकार ७३ वर्षीय श्री तकषि शिवशंकर पिल्लै को उनके उल्लेखनीय साहित्यिक योगदान के लिए सम्मानित किया गया. मलयालम भाषा को ज्ञानपीठ का पहला पुरस्कार पाने का गौरव भी प्राप्त है. तकषि मलयालम के तीसरे कथाकार हैं जिन्हें यह गौरव प्राप्त हुआ. इनसे पूर्व श्री गो. शंकर कुरुप को उनकी कृति 'ओडक्कुषल' के लिए पहले और श्री शं. कु. पोट्टेक्काट को उनकी कृति 'ओरु देशत्तिंते कथा' के लिए सोलहवें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है. पिछले तीन वर्षों से ज्ञानपीठ ने पुरस्कार के लिए कृति के स्थान पर कृतिकार का चयन प्रारंभ कर दिया है, इसलिए अब कृति विशेष को नहीं बल्कि किसी भी रचनाकार को उनके समग्र लेखन के संदर्भ में पुरस्कृत किया जाता है.

इस समारोह के मुख्य अतिथि थे मेक्सिको के अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कवि और लेखक श्री आक्टेवियो पॉज.

यह दूसरा अवसर था जब किसी विदेशी द्वारा पुरस्कृत रचनाकार को पुरस्कार पाने का गौरव प्राप्त हुआ. इससे पूर्व १९८२ का पुरस्कार श्रीमती महादेवी वर्मा को ब्रिटेन की प्रधान मंत्री श्रीमती मार्गरेट थैचर ने समर्पित किया था. किसी लेखक के हाथों पुरस्कार दिये जाने का भी यह दूसरा अवसर था. इसके पूर्व १९७४ का पुरस्कार श्री वि. स. खांडेकर को श्रीमती महादेवी वर्मा ने समर्पित किया था.

कार्यक्रम की शुरुआत में श्रीमती भारती शिवानी ने केरल की मोहिनी अट्टम शैली में नृत्य-कर वाग्देवी की वंदना की. मंच पर ज्ञानपीठ पुरस्कार के संस्थापक स्वर्गीय साहू शांति प्रसाद जैन और स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन की तस्वीरें लगी थीं.

वंदना के बाद ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्रेयांस प्रसाद जैन ने तकषि शिवशंकर पिल्लै को माल्यार्पण कर सम्मानित किया. श्रीमती इंदु जैन ने श्रीमती पिल्लै को फूलों का गुच्छा भेंट कर सम्मानित किया. प्रवर परिषद के अध्यक्ष और केंद्रीय मंत्री श्री प. व. नरसिंहराव ने श्री आक्टेवियो पॉज को माल्यार्पण कर उनका स्वागत किया. इसके बाद तकषि के सम्मान में श्री विज्ञान टंडन ने प्रशस्ति पाठ किया.

तब शंखनाद के बीच श्री आक्टेवियो पॉज ने श्री तकषि के माथे पर तिलक लगाया, उन्हें माला पहनायी, प्रशस्तिपत्र भेंट किया, वाग्देवी की प्रतिमा सौंपी, पुरस्कार की डेढ़ लाख रुपये की राशि का चैक भेंट किया और मंगल प्रतीक नारियल समर्पित किया. श्री पॉज ने ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित तकषि की २१ चुनिंदा कहानियों के संकलन का विमोचन भी किया. श्री तकषि की ८०० कहानियों में से चुनकर तैयार किया गया यह उनका हिंदी में प्रकाशित होने वाला पहला संग्रह है. सारे सम्मान श्री तकषि ने खुद स्वीकार किये पर पुरस्कार की रकम का चैक स्वीकारते ही अपनी पत्नी के हाथों पर रख दिया.

● श्रीमती एवं श्री आक्टेवियो पॉज समारोह-स्थल की ओर आते हुए साथ में सुश्री ऋचा जैन (एकदम दायें).

अपने भाषण में आक्टेवियो पॉज ने तकषि की साहित्य यात्रा का जिक्र करते हुए कहा कि उनकी रचनाओं में यथार्थ पर जोर है, उनके उपन्यासों में कटु यथार्थ है. श्री पॉज ने अंत में शिव और पार्वती के बारे में लिखी अपनी कविता सुनाई. यह कविता श्री पॉज ने सन्१९६८ में लिखी थी, तब वे भारत में मेक्सिको के राजदूत थे. मूल कविता के पाठ के बाद इसका हिंदी रूपांतर सुप्रसिद्ध कथाकार और कवयित्री श्रीमती इंदु जैन ने पढ़कर सुनाया जिसे श्रोताओं ने मंत्रमुग्ध होकर सुना.

प्रवर परिषद के अध्यक्ष श्री नरसिंह राव ने अपने भाषण में श्री आक्टेवियो पॉज और श्री तकषि के साहित्यिक योगदान और उपलब्धियों को रेखांकित किया.

तदोपरांत पुरस्कार जयी कृतिकार श्री पिल्लै ने अपने भाषण में इस बात पर जोर दिया कि भारतीय साहित्यकार लेखन की अपनी ही कोई शैली क्यों नहीं ईजाद करते? उन्होंने इस बात पर अफसोस जाहिर किया कि आज के उपन्यासों और कथाओं के ज्यादातर कथानक पश्चिम और वहां के जीवन से आयात किये जा रहे हैं. श्री तकषि ने कहा कि हमारी जीवन शैली और समाज अलग तरह का है और अतीत में कहानी कहने की, हमारी अलग परंपरा रही है. आज भी उसे बनाये रखने की जरूरत है.

अपनी रचनाधर्मिता की भीतरी कहानी सुनाते हुए उन्होंने कहा कि मैं गांववासी हूं. हमेशा अपने छोटे से गांव में रहा. मेरे आसपास की दुनिया अछूतों, दलितों और बदकिस्मतों की दुनिया थी. अपने शुरूआती दिनों में मैं उनके शोषण से बहुत ज्यादा नाराज था.

इस तरह देखते-देखते मैंने कई चीजें समझीं. मेरे लेखन में करोड़-पतियों के बड़े बंगले, उद्योगपतियों के ड्राइंगरूम और राजाओं के महलों का जिक्र नहीं है. मेरे जैसे ग्रामीण से तो बस किसान के पांवों पर लगी मिट्टी के वर्णन की ही उम्मीद आप कर सकते हैं.

तकषि ने कहा कि क्षमा चाहते हुए मैं यह बताना चाहता हूं कि मैं पहला ऐसा भारतीय लेखक हूं जिसने वर्ग—युद्ध के सिद्धांत को किसानों के बीच पनपता समझा और उसे अपने एक उपन्यास का विषय बनाया. उन्होंने कहा कि जिंदगी किसी भी तरह की विचारधारा से बड़ी चीज है. विचारधारा जिंदगी के लिए होती है जिंदगी विचारधारा के लिए नहीं.

श्री तकषि ने अपना भाषण अंग्रेजी में दिया पर बाद में दो मिनट मलयालम में भी बोले

समारोह से थोड़ा हटकर केरल की एक साहित्यिक संस्था केरल हिंदी साहित्य मंडल द्वारा प्रकाशित तकषि पर केंद्रित अभिनंदन ग्रंथ का विमोचन भी इसी मंच से श्री तकषि के हाथों संपन्न हुआ.

श्री तकषि के भाषण के बाद ज्ञानपीठ के प्रबंध न्यासी श्री अशोक जैन ने अभ्यागतों, मुख्य अतिथि और पुरस्कार विजेता के अभिवादन स्वरूप अपना धन्यवाद भाषण किया.

समारोह का संचालन सुश्री ऋचा जैन ने किया.

मुख्य समारोह के बाद दूसरे सत्र में श्री तकषि की कहानी 'फौजी रामन-नायर' की प्रस्तुति भी देखते बनती थी. चलचित्र का-सा आभास देते श्री धर्मवीर जयनर के पारदर्शी चित्रों को पर्दे पर देखना और पृष्ठभूमि से पंडित सत्यदेव दुबे की धीर-गंभीर आवाज में कहानी का वाचन बस देखते-सुनते ही बनता था.

ज्ञानपीठ और साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता श्री तकषि शिवशंकर पिल्लै अब तक ८०० कहानियां, ३२ उपन्यास, तीन वृहद खंडों में अपनी आत्मकथा, यात्रा वृत्त और नाटक की एक-एक कृति का सृजन कर भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि कर चुके हैं और ७३ वर्ष की अवस्था में भी वे निरंतर रचनारत हैं.

पुरस्कार समर्पण समारोह के दूसरे दिन की सांझ-४ तिलक मार्ग पर आयोजित चाय-सम्मिलनी के आयोजन के साथ ही ज्ञानपीठ का बीसवां पुरस्कार समारोह संपन्न हो गया.

प्र. : वीज.

'मुक्तिदूत' को मूर्तिदेवी पुरस्कार

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा दिया जाने वाला दूसरा पुरस्कार—'मूर्तिदेवी पुरस्कार' इस वर्ष श्री वीरेंद्रकुमार जैन को उनके उपन्यास 'मुक्तिदूत' के लिए दिया गया है. गत वर्ष प्रारंभ इस पुरस्कार के वीरेंद्रजी दूसरे विजेता हैं. पहला पुरस्कार कन्नड कथाकार श्री सी. के. नागराजराव को उनके बृहद उपन्यास 'शांतला' के लिए समर्पित किया गया था. ज्ञानपीठ के संस्थापक स्वर्गीय साहू शांतिप्रसाद जैन की मातुश्री के नाम से प्रारंभ इस पुरस्कार में लेखक को ११ हजार रुपये की राशि समर्पित की जाती है.

हालांकि 'मुक्तिदूत' का प्रकाशन अनेक वर्ष पूर्व हुआ था किंतु उसकी प्रासंगिकता आज भी अक्षुण्ण है. यह एक अद्भुत रचना है जिसमें संभवतया पहली बार नारी को आवागमन के बंधन का कारण न मानकर मानव मुक्ति का साधन माना गया है. 'मुक्तिदूत' को इससे पूर्व म. प्र. सरकार द्वारा भी पुरस्कृत किया जा चुका है. साथ ही इस पुस्तक को ज्ञानपीठ की लोकोदय ग्रंथमाला के अंतर्गत प्रकाशित होने वाली प्रथम पुस्तक का गौरव प्राप्त है. प्रथम महायुद्ध के दौरान मंदसौर (म. प्र.) में जन्में श्री वीरेंद्र कुमार जैन ने हिंदी में एम. ए. करने के बाद सर्वप्रथम कविता के जरिए अपनी साहित्यिक यात्रा प्रारंभ की. 'मुक्तिदूत' के साथ-साथ 'एक और नीलांजना' नामक कहानी संग्रह और भगवान महावीर के जीवन पर आधृत 'अनुत्तर योगी: तीर्थंकर महावीर' जैसा महत्वाकांक्षी बृहद उपन्यास वीरेंद्र जी की उल्लेखनीय कृतियां हैं. इनके अलावा दो कविता संग्रह, चिंतन संबंधी एक पुस्तक और दो अन्य उपन्यास भी वीरेंद्र जी ने हिंदी साहित्य को दिये हैं. सारिका परिवार की ओर से बधाई. □